THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

जिनेन्द्र कथित विश्व व्यवस्था

"जीव अनन्त, पुद्गल अनन्तानन्त, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक और काल लोक प्रमाण असंख्यात है। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त-अनन्त गुण हैं। प्रत्येक गुण में एक ही समय में एक पर्याय का उत्पाद, एक पर्याय का व्यय और गुण ध्रौव्य रहता है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य के गुण में हो चुका है, हो रहा है और होता रहेगा।"

[जैनदर्शन का सार]

स्व - (१) अमूर्तिक प्रदेशो का पुज (२) प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणो का धारी (३) अनादिनिधन (४) वस्तु आप है।

पर—(१) मूर्तिक पुद्गल द्रव्यो का पिण्ड (२) प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणो से रहित (३) नवीन जिसका सयोग हुआ है (४) ऐसे शरीरादि पुद्गल पर हैं। [मोक्षमार्गप्रकाशक]

जयपुर

सम्पूर्ण दुःखों का अभाव होकर

सम्पूर्ण सुख की प्राप्ति का उपाय

अनादिनिधन वस्तुएं भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती हैं। कोई किसी के आधीन नहीं हैं। कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती। पर को परिणमित कराने का भाव मिथ्यादर्शन है।

[मोक्षमार्गप्रकाशक]

अपने-अपने सत्त्व कूं, सर्व वस्तु विलसाय।
ऐसे चितवै जीव तब, परतै ममत न थाय॥

सत् द्रव्य लक्षणम्। उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत्।

[मोक्षशास्त्र]

"Permanancy with a Change"

[बदलने के साथ स्थायित्व]

NO SUBSTANCE IS EVER DESTROYED
IT CHANGES ITS FORM ONLY

[कोई वस्तु नष्ट नहीं होती, प्रत्येक वस्तु अपनी अवस्था बदलती है।]

भारतीय श्रुति-दर्शन केन्द्र

जयपुर

मिथ्यातम ही महापाप है

राजमल पवैया

मिथ्यातम ही महा पाप है, सब पापो का बाप है।
सब पापो से बड़ा पाप है, घोर जगत सताप है ॥टेक॥
हिंसादिक पाचो पापो से, महा भयकर दुखदाता।
सप्त व्यसन के पापो से भी, तीव्र पाप जग विख्याता ॥
है अनादि से अग्रहीत ही, शाश्वत शिव सुख का घाता।
वस्तु स्वरूप इसी के कारण, नही समझ मे आ पाता ॥
जिन वाणी सुनकर भी पागल, करता पर का जाप है।
मिथ्यातम ही महापाप है ॥१॥
सज्ञी पचेन्द्रिय होता है, तो ग्रहीत अपनाता है।
दो हजार सागर त्रस रहकर, फिर निगोद मे जाता है ॥
पर मे आपा मान स्वय को, भूल महा दुख पाता है।
किन्तु न इस मिथ्यात्व मोह के, चक्कर से बचपाता है ॥
ऐसे महापाप से बचना, यह जिनकुल का माप है।
मिथ्यातम ही महापाप है ॥२॥
इससे बढ़कर महा शत्रु तो, नही जीव का कोई भी।
इससे बढकर महा दुष्ट भी, नही जगत मे कोई भी ॥
इसके नाश किए बिन होता, कभी नही व्रत कोई भी।
एकदेश या पूर्ण देशव्रत, कभी न होता कोई भी ॥
क्रिया काड उपदेश आदि सब, झूठा वृथा प्रलाप है।
मिथ्यातम ही महापाप है ॥३॥
यदि सच्चा सुख पाना है तो, तुम इसको सहार करो।
तत्क्षण सम्यक्दर्शन पाकर, यह भव सागर पार करो ॥
वस्तु स्वरूप समझने को अब, तत्वो का अभ्यास करो।
देह पृथक है, जीव पृथक है, यह निश्चय विश्वास करो ॥
स्वय अनादिअनत नाथ तू, स्वय सिद्ध प्रभु आप है।
मिथ्यातम ही महापाप है ॥४॥

प्रकाशकीय निवेदन

भेद विज्ञान जग्यो जिनके घट, शीतल चित्त भयो जिमि चन्दन।
केलि करें शिव मारग मे, जगमांहि जिनेश्वर के लघुनन्दन॥
सत्यस्वरूप सदा जिनके प्रगट्यो, अवदात मिथ्यात्व निकदन।
सान्तदशा तिनकी पहिचान, कर कर जोरि बनारसि बंदन॥

जगत के जीवो को आत्म स्वरूप का भान कराने वाले सच्चे देव-गुरू-शास्त्र, तथा जिनेश्वर के लघुनदन श्री गुरुदेव आदि महान आत्माओ के चरणो मे हमारा भक्तिभाव सहित अगणित नमस्कार। हमे तथा इसका मनन करने वालो को सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र की परिपूर्णता हो, ऐसी हमारी भावना है।

यह आध्यात्मिक रचनाओ का अनमोल सग्रह है। इस छोटी सी गागर मे भावो का सागर भरा पडा है। प्राचीन जैन कवियो की सुन्दर रचनाओ का यह सकलन साहित्य की एक अमूल्य निधि है जिसके अध्ययन से हृदय मे वरबस विराग का निर्झर झरने लगता है। इसमे दर्शनपाठ, पूजा, सामायिक पाठ, तत्त्वचर्चा, भजन, योगसार, समाधि तन्त्र, इष्टोपदेश, मुमुक्षओ के नाम पत्र, आत्मज्ञान की गाथा आदि सर्व उपयोगी विषयों का सग्रह किया है। ताकि पात्र भव्य जीव थोड़े मे अपना आत्म कल्याण करके मोक्ष का पथिक बने। विषय और कषायो मे रचा पचा प्राणी यदि किसी आध्यात्मिक रचना आदि का पाठ करने लगे तो उसका हृदय परिवर्तन हुए बिना नही रहता।

किन्तु पाठ कोरी वाचक क्रिया नही है। पाठ गत पवित्र भावो का मानस-पटल पर प्रतिफलन होना चाहिए। वह तो अन्तर-निरीक्षण पूर्वक हृदय को पावन करने का सुन्दर साधन है। ग्रामोफोन का रेकार्ड सबको अपना सन्देश सुनाता है किन्तु स्वय कुछ

नही समझता। इस प्रकार की भाव-शून्य क्रिया का मानस-पटल पर कोई प्रतिफल नही होता। पाठ आदि करने का उद्देश्य भार उतारना नही। दीमक की भाँति शनै. शनै हमारी आत्मा का हनन करने वाली दूषित वृत्तियो को हृदय से बाहर निकाल फेंकना ही उसका एक-मात्र उद्देश्य है। शब्द एव अर्थ के बोध पूर्वक किया गया ऐसा नित्यपाठ पतित को पावन बनाने वाला एक महान आध्यात्मिक योग है।

हे जीवो, यदि आत्म कल्याण करना चाहते हो तो सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए सत्समागम से समस्त प्रकार से परिपूर्ण आत्म स्वभाव की रुचि और विश्वास करो, उसी का लक्ष और आश्रय करो। कहा है कि—

आपा नहि जाना तूने, कैसा ज्ञान धारी रे।
देहाश्रित कर क्रिया आपको, मानत शिव मग चारी रे॥

सबसे प्रथम राग रहित ज्ञायक स्वभावी अपनी आत्मा का निर्णय करना चाहिए, यह ही जिन प्रवचन का सार है और जिन वाणी की भक्ति है क्योकि आत्मा का अनुभव हुए विना पूजादि नही हो सकती है। इसलिए पात्र जीवो को तत्त्व निर्णय करके भगवान का सच्चा भक्त बनना चाहिए। छहढाला मे कहा गया है कि—

मोक्ष महल की परथम सीढी, या विन ज्ञान चरित्रा।
सम्यक्ता न लहै सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा॥
"दौल" समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवे।
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहि होवे॥

इसलिए पात्र जीवो को प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

विनीत
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल
देहरादून

जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला

सातवें भाग की विषय सूची

क्रम	विषय	पृष्ठ
१	देव स्तुती	६ से १०
२	देव-शास्त्र-गुरु स्तुति	१० से १२
३	देव दर्शन पाठ	१२ से १३
४	आराधना पाठ	१३ से १४
५	विनयपाठ	१४ से १६
६	आत्मज्ञान की कथा	१६ से १६
७	आत्म-स्तवन	२० से २२
८	नित्य पूजा सग्रह	२३ से २५
९	श्री देवशास्त्र गुरु पूजा	२५ से २६
१०	श्री देवशास्त्र गुरु, विदेहक्षेत्र विद्यमान तीर्थंकर तथा अनन्तान्त सिद्ध परमेष्ठी पूजा	२६ से ३२
११	श्री पच परमेष्ठी पूजन	३३ से ३६
१२	श्री शान्तिनाथ जिन पूजा	३६ से ३६
१३	सम्पूर्ण अर्घ	३६
१४	शान्तिपाठ	४०
१५	विसर्जन पाठ	४१
१६	आत्म सम्बोधन	४१
१७	जिन वाणी माता की स्तुति	४२
१८	भव्य जीवो के लिए सच्चा सुख प्राप्त करने योग्य तत्व चर्चा	४३ से

क्रम विषय	पृष्ठ
१९. सर्वज्ञ देव कथित छहों द्रव्यों की स्वतन्त्रता दर्शक छह सामान्य गुण	५३ से ५४
२० बारह भावना	५४ से ५५
२१. सामायिक पाठ अमितगति आचार्य	५५ से ५७
२२. अमूल्य तत्व विचार	५७ से ५८
२३. योगसार	५८ से ६७
२४. समधितन्त्र	६७ से ७५
२५. इष्टोपदेश	७५ से ७९
२६ ससार दर्पण	७९ से ८२
२७. चारोपन व्यर्थ खाने वाला सेवक	८२ से ८५
२८. अज्ञानी अपनी मूर्खता से परिभ्रमण करता है	८६ से ८८
२९. भूल भुलैया का ससार	८८
३०. शुद्ध आत्मदेव पूजन	८९ से ९२
३१ मुमुक्षुओं के नाम खुला पत्र	९२ से ९७
३२. दशलक्षण धर्म	९७ से १०३
३३ ए. भगवान् महावीर	१०३ से १०९
३३ बी. आत्मस्वरूप की यथार्थ समझ सुलभ है	१०९ से ११२
३४. पाप का बाप	११२ से ११४
३५ साधु ने दुनिया को झूठा दिखला दिया	११४ से ११७
३६. भजन सग्रह	११८ से १४४
३७ कविवर बुधजन कृत छहढाला	१४४ से १७३

ॐ

॥ श्री वीतरागाय नम ॥

लघु दर्शन-पूजा आदि का अपूर्व संग्रह

सातवाँ भाग

दर्शन पाठ सग्रह

ॐ जय जय जय, नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु ।
णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण, णमो आयरियाण ।
णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्व साहूण ॥

(१) देव स्तुति

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्द रसलीन ।
सो जिनेन्द्र जयवत नित, अरि रज रहस विहीन ॥

जय वीतराग विज्ञान पूर, जय मोह तिमिर को हरन सूर ।
जय ज्ञान अनन्तानत धार, दृग-सुख-वीरज मडित अपार ॥
जय परमशात मुद्रा समेत, भविजनको निज अनूभूति हेत ।
भवि भागन वश जोगेवशाय, तुमधुनिह्वै सुनि विभ्रम नशाय ॥
तुम गुण चितत निज-पर विवेक, प्रगटै विघटै आपद अनेक ।
तुम जग भूषण दूपण वियुक्त, सव महिमा युक्त विकल्पमुक्त ॥
अविरुद्ध शुद्ध चेतनस्वरूप, परमातम परम पावन अनूप ।
शुभअशुभ विभाव अभावकीन, स्वाभाविकपरिणतिमय अछीन ॥
अष्टादश दोष विमुक्त धीर, स्वतुष्टयमय राजत गभीर ।
मुनिगणधरादि सेवत महत, नय केवल लब्धिरमा धरत ॥
तुम शासन सेय अमेय जीव, शिवगये जाहि जै हैं सदीव ।
भव सागर मे दुख छार वारि, तारन को और न आप टारि ॥
यह लखिनिज दुखगद हरणकाज, तुमही निमित्तकारण इलाज ।
जाने तातै मैं शरण आय, उचरो निज दुख जो चिर लहाय ॥

मैं भ्रम्यो अपनपो विसरि आप, अपनाये विधिफल पुण्य-पाप।
निज को पार को करता पिछान, पर मे अनिष्टता-इष्ट ठान ॥
आकुलित भयो अज्ञान धारि, ज्यों मृग मृगतृष्णा जानि वारि।
तन परिणति मे आपो चितार, कबहू न अनुभवो स्वपदसार ॥
तुमको बिनजाने जो कलेश, पाये सो तुम जानत जिनेश।
पशु नारक नर सुरगति मँझार, भव धर-धर मर्यो अनतवार ॥
अब काललब्धि बलतें दयाल, तुम दर्शन पाय भयो खुशाल।
मन शात भयो मिटि सकल द्वन्द, चाख्योस्वातमरसदुखनिकद ॥
तातें अब ऐसी करहु नाथ, विछुरै न कभी तुम चरण साथ।
तुम गुण गण को नाहि छेव देव, जगतारन को तुम विरद एव ॥
आतम के अहित विषय कषाय, इनमे मेरी परिणति न जाय।
मैं रहूं आप मे आपलीन, सो करो होऊँ ज्यो निजाधीन ॥
मेरे न चाह कछु और ईश, रत्नत्रयनिधि दीजे मुनीश।
मुझ कारज के कारन सु आप, शिव करहुहरहुमम मोह ताप ॥
शशि शातिकरन तप हरन हेत, स्वयमेव तथा तुम कुशल देत।
पीवत पीयूष ज्यों रोग जाय, त्यो तुम अनुभव तें भव नशाय ॥
त्रिभुवन तिहुंकाल मँझार कोय, नहिं तुम बिन निज सुखदाय होय।
मोउर यह निश्चय भयो आज, दुख जलधि उतारन तुम जहाज ॥

तुम गुणगणमणि गणपति, गणत न पावहिं पार।
'दौल' स्वल्पमति किम कहैं, नमूं त्रियोग सभार ॥

(२) देव-शास्त्र-गुरु स्तुति

समयसार जिन देव हैं जिन प्रवचन जिनवाणि।
नियमसार निर्ग्रन्थ गुरु करे कर्म की हानि ॥

हे वीतराग सर्वज्ञ प्रभो, तुमको ना अब तक पहिचाना।
अतएव पड रहे हैं प्रभुवर, चौरासी के चक्कर खाना ॥

करुणानिधि तुमको समझ नाथ, भगवान भरोसे पड़ा रहा।
भरपूर सुखी कर दोगे तुम, यह सोचे सन्मुख खड़ा रहा॥
तुम वीतराग हो लीन स्वय मे, कभी न मैंने यह जाना।
तुम हो निरीह जग से कृत-कृत, इतना ना मैंने पहिचाना॥
प्रभु वीतराग की वाणी मे, जैसा जो तत्त्व दिखाया है।
यह जगत स्वय परिणमनशील, केवलज्ञानी से गाया है॥
उस पर तो श्रद्धा ला न सका, परिवर्तन का अभिमान किया।
वनकर पर का कर्त्ता अब तक, सत् का न प्रभो सम्मान किया॥
भगवान तुम्हारी वाणी मे, जैसा जो तत्त्व दिखाया है।
स्याद्वाद् नय अनेकान्तमय, समयसार समझाया है॥
उस पर तो ध्यान दिया न प्रभो, विकथा मे समय गमाया है।
शुद्धात्मरुचि न हुई मन मे, ना मन को उधर लगाया है॥
मैं समझ न पाया था अब तक, जिनवाणी किसको कहते हैं।
प्रभु वीतराग की वाणी मे, कैसे क्या तत्त्व निकलते हैं॥
राग धर्ममय धर्म रागमय, अव तक ऐसा जाना था।
शुभ कर्म कमाते सुख होगा, बस अब तक ऐसा माना था॥
पर आज समझ मे आया है, कि वीतरागता धर्म अहा।
राग-भाव मे धर्म मानना, जिनमत मे मिथ्यात्व कहा॥
वीतरागता की पोषक ही, जिनवाणी कहलाती है।
यह है मुक्ति का मार्ग निरन्तर, हमको जो दिखलाती है॥
उस वाणी के अन्तर्तम को, जिन गुरुओ ने पहिचाना है।
उन गुरुवर्यों के चरणो मे, मस्तक बस हमे झुकाना है॥
दिन रात आत्मा का चिंतन, मृदु सम्भाषण मे वही कथन।
निर्वस्त्र दिगम्बर काया से भी, प्रगट हो रहा अन्तर्मन॥
निर्ग्रन्थ दिगम्बर सद्ज्ञानी, स्वातम मे सदा विचरते जो।
ज्ञानी ध्यानी समरससानी, द्वादश विधि तप नित करते जो॥
चलते फिरते सिद्धो से गुरु, चरणो मे शीश झुकाते हैं।
हम चलें आपके कदमो पर, नित यही भावना भाते हैं॥

हो नमस्कार शुद्धतम को, हो नमस्कार जिनवर वाणी।
हो नमस्कार उन गुरुओं को, जिनकी चर्या समरससानी ॥
दर्शन दाता देव है, आगम सम्यग्ज्ञान।
गुरू चारित्र की खानि हैं, मैं वन्दो धरि ध्यान।

(३) देव दर्शन पाठ

अति पुण्य उदय मम आया, प्रभु तुमरा दर्शन पाया।
अब तक तुमको बिन जाने, दुख पाये निज गुण हाने ॥
पाये अनन्ते दुख अब तक, जगत को निज जानकर।
सर्वज्ञ भाषित जगत हितकर, धर्म नहि पहिचान कर ॥
भव बन्ध कारक सुख प्रहारक विषय मे सुख मानकर।
निजपर पर विवेचक ज्ञानमय, सुख निधि-सुधा नही पानकर ॥१॥
तव पद मम उर मे आये, लखि कुमति विमोह पलाये।
निज ज्ञान कला उर जागी, रुचि पूर्ण स्वहित मे लागी ॥
रुचि लगी हित मे आत्म के, सतसग मे अब मन लगा।
मन मे हुई अब भावना, तव भक्ति मे जाउँ रगा ॥
प्रिय वचन की हो टेव, गुणिगण गान मे ही चित्त पगे।
शुभ शास्त्र का नित हो मनन, मन दोष वादनतै भगे ॥२॥
कब समता उर मे लाकर, द्वादश अनुप्रेक्षा भाकर।
ममतामय भूत भगाकर, मुनिव्रत धारूँ बन जाकर ॥
धर कर दिगम्बर रूप कब, अठ बीस गुण पालन करूँ।
दो बीस परिषह सह सदा, शुभ धर्म दश धारन करूँ ॥
तप तपूं द्वादश विधि सुखद नित, बध आश्रव परिहरूँ।
अरू रोकि नूतन कर्म सचित, कर्म रिपु को निर्जरूँ ॥३॥
कब धन्य सुअवसर पाऊ, जब निज मे ही रम जाऊ।
कर्तादिक भेद मिटाऊ रागादिक दूर भगाऊ ॥

कर दूर रागादिक निरतर, आतम को निर्मल करू ।
बल ज्ञान दर्शन सुख अतुल, लहि चरित क्षायिक आचारू ।।
आनन्दकन्द जिनेन्द्र बन, उपदेश को नित उच्चरू ।
आवै 'अमर' कब सुखद दिन, जब दु खद भवसागर तरू ।।४।।

(४) आराधना पाठ

मैं देव नित अरहत चाहू, सिद्ध का सुमिरन करौं ।
मैं सुर गुरु मुनि तीन पद ये, साधुपद हिरदय धरौं ।।
मैं धर्म करुणामयी जु चाहूँ, जहाँ हिंसा रच ना ।
मैं शास्त्र ज्ञान विराग चाहूँ जासू मैं परपच ना ।।१।।
चौवीस श्री जिनदेव चाहूँ, और देव न मन बसै ।
जिन बीस क्षेत्र विदेह चाहूँ, वदिते पातक नसै ।।
गिरनार शिखर सम्मेद चाहूँ, चम्पापुरी पावापुरी ।
कैलास श्री जिन धाम चाहूँ, भजत बाजै भ्रम जुरी ।।२।।
नव तत्त्व का सरधान चाहूँ, और तत्त्व न मन धरो ।
षट द्रव्य गुण पराजय चाहूँ, ठीक तासो भय हरो ।।
पूजो परम जिनराज चाहूँ, और देव न चाहूँ कदा ।
तिहुकाल की मैं जाप चाहूँ, पाप नही लागे कदा ।।३।।
सम्यक्त्व दर्शन ज्ञान चारित्र, सदा चाहूँ भाव सो ।
दशलक्षणी मैं धर्म चाहूँ महा हर्ष उछाव सो ।।
सोलह जु कारन दुख निवारण,, सदा चाहूँ प्रीति सो ।
मैं नित अठाई पर्व चाहूँ, महा मगल रीति सो ।।४।।
मैं वेद चारो सदा चाहू, आदि अन्त निवाह सो ।
पाये धरम के चार चाहू, अधिक चित्त उछाह सो ।।
मैं दान चारो सदा चाहू, भुवनवशि लाहो लहूँ ।
आराधना मैं चारि चाहू, अन्त मे येही गहूँ ।।५।।

भावना-वारह जु भाऊँ भाव निरमल होत हैं।
मैं व्रत जु वारह सदा चाहू, त्यागभाव उद्योत है॥
प्रतिमा दिगम्बर सदा चाहूँ, ध्यान आसन सोहना।
वसुकर्म तै मैं छुटा चाहू, शिव लहू जहँ मोहना॥६॥
मैं साधुजन को सग चाहूँ, प्रीति तिनही सो करो।
मैं पर्व के उपवास चाहूँ, आरम्भ मै सव परिहरा॥
इस दु:ख पचम काल माही, कुल श्रावक मैं लह्यो।
अरु महाव्रत धरि सको नाही, निबल तन मैंने गह्यो॥७॥
आराधना उत्तम सदा, चाहूँ सुनो जिनराय जी।
तुम कृपानाथ अनाथ 'द्यानत' दया करना न्याय जी॥
वसु कर्म नाश विकास ज्ञान, प्रकाश मुझको दीजिये।
करि सुगति गमन समाधि मरन सुभक्ति चरनन दीजिए॥८॥

(५) विनय पाठ

इहि विधि ठाडो होय के, प्रथम पढे जो पाठ।
धन्य जिनेश्वर देव तुम, नाशे कर्म जु आठ॥१॥
अनत चतुष्टय के धनी, तुम ही हो सिरताज।
मुक्ति-वधूके कत तुम, तीन भुवन के राज॥२॥
तिहुँ जग की पीडा हरन, भवदधि-शोषणहार।
ज्ञायक हो तुम विश्व के, शिव सुख के करतार॥३॥
हरता अघ अधियार के, करता धर्म-प्रकाश।
थिरता पद दातार हो, धरता निजगुण रास॥४॥
धर्मामृत उर जलधिसो, ज्ञानभानु तुम रूप।
तुमरे चरण-सरोज को, नावत तिहुँ जग भूप॥५॥
मैं वन्दो जिनदेव को, करि अति निरमल भाव।
कर्म बध के छेदने, और न कछू उपाव॥६॥

भविजनको भव-कूपतै, तुम हो काढनहार।
दीनदयाल अनाथपति, आतम गुणभंडार ॥७॥
चिदानन्द निर्मल कियो, धोय कर्मरज मैल।
सरल करी या जगत मे, भविजन को शिवगैल ॥८॥
तुम पदपंकज पूजतैं, विघ्न रोग टर जाय।
शत्रु मित्रता को धरैं, विष निरविषता थाय ॥९॥
चक्री खगधर इंद्रपद, मिलै आपतैं आप।
अनुक्रम करि शिवपद लहै, नेम सकल हनि पाप ॥१०॥
तुम बिन मैं व्याकुल भयो, जैसे जल बिन मीन।
जन्म जरा मेरी हरो, करो मोहि स्वाधीन ॥११॥
पतित बहुत पावन किये, गिनती कौन करेय।
अंजन से तारे कुधी जय जय जय जिनदेव ॥१२॥
थकी नाव भवदधि विष तुम प्रभु पार करेय।
खेवटिया तुम हो प्रभु, जय जय जय जिनदेव ॥१३॥
राग सहित जग मे रुल्यो, मिले सरागी देव।
वीतराग भेट्यो अबै, मेटो राग कुटेव ॥१४॥
कित निगोद कित नारकी, कित तिर्यंच अज्ञान।
आज धन्य मानुष भयो, पायो जिनवर थान ॥१५॥
तुमको पूजैं सुरपती, अहिपति नरपति देव।
धन्य भाग मेरो भयो, करन लग्यो तुम सेव ॥१६॥
अशरण के तुम शरण हो, निराधार आधार।
मैं डूवत भवसिन्धु मे खेओ लगाओ पार ॥१७॥
इन्द्रादिक गणपति थके, कर विनती भगवान।
अपनो विरद निहारि कै, कीजे आप समान ॥१८॥
तुमरी नेक सुदृष्टितैं, जग उतरत है पार।
हा हा डूब्यो जात हौं, नेक निहार निकार ॥१९॥
जो मैं कहहूं और सो, तो न मिटै उरभार।
मेरी तो तासो बनी, तातैं करी पुकार ॥२०॥

वदौं पाचौं परम गुरु, सुर गुरु वदत जास।
विघन हरन मगलकरन, पूरन परम प्रकाश ॥२१॥
चौवीसो जिनपद नमो, नमो शारदा माय।
शिव मग साधक साधु नमि, रच्यो पाठ सुखदाय ॥२२॥

(६) आतम ज्ञान की गाथा

आवो भाई तुम्हे सुनाएँ, गाथा आतम ज्ञान की,
जिससे तडक-तडक गिर पडती कर्मों की सतान भी।
वन्दे जिनवरम् वन्दे जिनवरम् ॥ टेक ॥
लगा गधो के साथ अरे ज्यो सिंह कोई लासानी हो,
या निज को अँग्रेज समझता कोई हिन्दुस्तानी हो,
रे अनन्त वैभव का स्वामी निपट भिखारी बन फिरता।
खाक छानता चौरासी की फिर भी पेट नही भरता
हुई अरे नादानी मे यह दीन दशा भगवान की ॥१॥
षट द्रव्यो का चक्र सुदर्शन जग मे चलता रहता है,
वह बेरोक निरन्तर अपने सुन्दर पथ पर बढता है।
किसकी हस्ती उसकी गति को रोके जो निज बल से,
कौन अभागा सिंह वदन मे बढकर अपनी अँगुलि दे।
यह अखण्ड सिद्धान्त बात यह सहज प्रकृति विज्ञान की ॥२॥
अणु-अणु की सत्ता स्वतन्त्र है द्रव्य मात्र स्वाधीन सभी,
सब की सीमा न्यारी नहि आदान-प्रदान विधान कभी।
सब को अपनी सीमा प्यारी अपना घर ही प्यारा है,
अरे विश्व का शान्ति विधायक यह सिद्धान्त निराला है।
यही वस्तु की मर्यादा है यही वस्तु की शान भी ॥३॥
जड़ चेतन छह द्रव्य विश्व मे न्यारे-न्यारे रहते है,
पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश इन्हे जड कहते है।

चेतन ज्ञान विशिष्ट वस्तु है जड मे ज्ञान नही रहता,
आदि रहित है अन्त रहित है जड चेतन की यह सत्ता।
यही विश्व मे रहे रहेगे रहना इनका काम भी ॥४॥
जो है उसको कौन मिटावे और नही को लावे कौन,
भिन्न-भिन्न हो जिसकी सत्ता उसको कहो मिलावे कौन।
प्रति पलका निश्चित परिवर्तन कौन करे आगे-पीछे,
सत् का अरे विनाश असत् का उत्पादन हो तो कैसे।
स्वय सिद्ध जो उसको क्या आवश्यकता भगवान की ॥५॥
होता नही विनाश कभी पर्याय बदलती रहती है,
अरे! तरगित सरिता जैसे अविकल बहती रहती है।
उठती हैं कल्लोल उसी मे विलय उसी मे हो जाती,
पर सरिता तो अपने पथ पर शाश्वत ही वहती जाती।
पल पल अलट पलट करता अणु-अणु सत्ता का त्राण भी ॥६॥
यह पर्याय स्वभाव कि वह तो सदा पलटती रहती है,
आता नव उत्पाद पुरानी व्यय को पाती रहती है।
द्रव्य सदा ध्रुव होकर रहता उसकी अक्षय सत्ता है,
ब्रह्मा विष्णु महेश यही उत्पाद ध्रौव्य व्यय मत्ता है।
यही वस्तु का अक्षय जीवन यही सहज वरदान भी ॥७॥
है स्वभाव यह सहज वस्तु का सदा अकेला एक है,
यह ही उसकी सुन्दरता है वह पर से निरपेक्ष है।
सदा अरे अपने गुण पर्यायो मे खुल कर खेलता,
किन्तु एक की कृतियो का फल नही दूसरा झेलता।
झूठ कहानी अरे परस्पर सुख-दुख-बाधा दान की ॥८॥
अणु को भी अवकाश नही है अपने-अपने काम से,
सभी सदा सम्राट अकेले अपने-अपने धाम के।
अपना काम सदा करने की अणु मे भी बल शक्ति है,
नही प्रतिक्षा पर की करता उसके कुल की रीति है,
स्वय शक्ति मय कौन अपेक्षा पर से बल आदान की ॥९॥

एक सहायक होता पर का यह लौकिक व्यवहार है,
बाधा देता एक दूसरे को यह लोकाचार है।
बचता जीवन तो पर पर होता रक्षा आरोप है,
मरता स्वय लोक कर्त्ता पर पर हत्या का थोप है।
है स्वतन्त्र जीवन, मिथ्या है गाथा बाधा त्राण की ॥१०॥
पूर्ण शक्ति मय अणु-अणु बोलो कोई किससे काम ले,
पूर्ण कुभ को कौन बुद्धिमन् बरबस ही जलदान दे।
सलिल भर घट को जल देना श्रम का ही अपमान है,
सदा पूर्ण जो उसको रीता कहना घोर अज्ञान है।
यही मान्यता मूल रही है ससृति-चक्र-विधान की ॥११॥
जड का कार्य सदा जडता मे जडता उसका धर्म है,
जडता ही उसका स्वभाव और जडता उसका कर्म है।
जडता द्रव्य शक्ति भी जडता जडता ही पर्याय है,
द्रव्य क्षेत्र और काल भाव सब जडता ही व्यवसाय है।
अत न जड मे पर्याये होती है श्रद्धा ज्ञान की ॥१२॥
ज्ञान शून्य जड नही कभी भी निज पर को पहिचानता,
जग मे चेतन तत्त्व एक वस पर को अपना मानता।
चेतन का श्रद्धा विकार वस यह भवतरु का प्राण है,
सुख सागर की घोर कष्टमयता का यही निदान है।
नही पराया दुख का कारण नही सुख व्यवधान भी ॥१३॥
अपने सुख के हेतु चेतना पर के मुँह को ताकती,
अपने दु ख के कारण को वह पर मे सदा तपासती।
अरे अज्ञ शुक निज को नलिनी स्नेह पाश मे बाधता,
और अकारण नलनी को वधन का कारण मानता।
नही छोडता हुआ न तव तक स्वर्णिम-मुक्ति-विहान भी ॥१४॥
अरे धनादि सयोग पुण्य के उदय जन्य सामान है,
उनके सम्पादन मे चेतन का न तनिक अहसान है।

एक अथक श्रम करता लेकिन भूखा सोता रात है,
और मोतियो के करण्ड मे होता कही प्रभात है।
विधि का यही विधान न इसमे श्रम का नाम निशान भी ॥१५॥
यही दृष्टि विपर्यास है यह ही पहली भूल हैं,
भवतरु की सभूति वृद्धि फल मयता का यह मूल है।
जब तक पौरुष सोता रहता तबतक यह नादान है,
अरे! तभी तक ही तो कहते कर्म महा बलवान है।
ज्ञान ओर चारित्र सभी इसके अभाव मे दीन हैं,
विधवा के शृगार तुल्य वे सुन्दरता श्री हीन है।
अरे! अगोचर महिम मुक्ति के मगलमय सोपान की ॥१६॥

जिसे आत्मा की जिज्ञासा जाग्रत हो, पिपासा लगे, बहार का सब दु खमय भासित हो, उसे यदि वह अन्तर मे खोज करे तो, आत्मा की महिमा आये। जिसे संसार मे तन्मयता है, उसे आत्मा की महिमा नही आती। जिसे बाह्य मे—विभाव मे—दुख लगे, वह विचार करता है कि यह तो सब दु.ख रूप है; मैं तो अन्तर मे ऐसा कोई अनुपम तत्त्व हू कि जिस मे परिपूर्ण सुख है। जिसे जिज्ञासा जाग्रत हो वह अपने आत्मा का गुण-वैभव देखने का प्रयत्न करता है और तब उसे उसकी महिमा आती है। 'आत्मा का वैभव कैसा है? उसे कौन बतलाये? यह कैसे प्रगट हो? ऐसी जिसे जिज्ञासा हो वह खोज करता है।

आत्म-स्तवन

अनेकान्त मूर्ति भगवान आत्मा की ४७ शक्तियों का सुन्दर वर्णन

जीव है अनन्ती शक्ति सम्पन्न राग से वह भिन्न है,
उस जीव को लक्षित कराने 'ज्ञानमात्र' वदन्त है ॥१॥
एक ज्ञानमात्र ही भाव मे शक्ति अनन्ती उल्लसे,
यह कथन है उन शक्ति का भवि जीव जानो प्रेम से ॥२॥
'जीवत्व'[1] से जीवे सदा जीव चेतता चिति'[2] शक्ति से,
'दृशि'[3] शक्ति से देखे सभी अरु जानता वह ज्ञान'[4] से ॥३॥
आकुल नहिं 'सुख'[5] शक्ति से निज को रचे निज 'वीर्य'[6] स,
'प्रभुत्व'[7] से वह शोभता व्यापक है विभु'[8] शक्ति से ॥४॥
सामान्य देखे विश्व को यह सर्वदर्शि'[9] शक्ति है,
जाने विशेषे विश्व को 'सर्वज्ञता'[10] की शक्ति है ॥५॥
जहँ दीसता है विश्व सारा शक्ति यह 'स्वच्छत्व'[11] की,
है स्पष्ट स्वानुभव मयी यह शक्ति जान 'प्रकाश'[12] की ॥६॥
'विकास मे सकोच नही'[13] यह शक्ति तेरवी जानना,
नहिं कार्य-कारण'[14] कोई का है भाव ऐसा आत्म का ॥७॥
जो ज्ञेय का ज्ञाता बने अरु ज्ञेय होता ज्ञान मे,
उस शक्ति को 'परिणम्य-परिणामक'[15] कहा है शास्त्र मे ॥८॥
'नही त्याग-नही ग्रहण'[16] बस ! निज स्वरूप मे जो स्थित है,
स्वरूपे प्रतिष्ठित जीव की शक्ति 'अगुरुलघुत्व'[17] है ॥९॥
'उत्पाद-व्यय-ध्रुव'[18] शक्ति से जीव क्रम-अक्रम वृत्ति धरे,
है सत्पना 'परिणाम शक्ति'[19] नही फिरे तीन काल मे ॥१०॥
नही स्पर्श जाणो जीव मे आत्म प्रदेश 'अमूर्त'[20] है,
कर्ता नही पर भाव का ऐसी 'अकर्तृत्व' शक्ति है ॥११॥

भोक्ता नही पर भाव का ऐसी 'अभोक्तृत्व'[22] शक्ति है,
'निष्क्रियता'[23] रूप शक्ति से आत्म प्रदेश निस्पद है ॥१२॥
असख्य निज अवयव घरें 'नियत' प्रदेशी'[24] आत्म है,
जीव देह मे नही व्यापता 'स्वधर्म-व्यापक'[25] शक्ति है ॥१३॥
'स्व-पर मे जो सम अरू विषम तथा जो मिश्र है'[26];
त्रयविध ऐसे धर्म को निज शक्ति से आत्मा धरे ॥१४॥
जीव अनन्त भावो धारता 'अनन्त धर्म की'[27] शक्ति से,
तत्-अतत् दोनो भाव वरते 'विरुद्ध धर्म'[28] की शक्ति से ॥१५॥
जो ज्ञान का तद्रूप-भवन सो तत्त्व'[29] नामक शक्ति है,
जीव मे अतद्रुप परिणमन जानो 'अतत्त्व'[30] की शक्ति से ॥१६॥
बहु पर्ययो मे व्यापता एक द्रव्यता को नहि तजे,
निज स्वरूप की 'एकत्व'[31] शक्ति जान जीव शान्ति लहे ॥१७॥
जीव द्रव्य से है एक फिर भी 'अनेक'[32] पर्यय रूप बने,
स्व पर्ययो मे व्याप कर जीव सुखी ज्ञानी सिद्ध बनें ॥१८॥
है 'भावशक्ति'[33] जीव की सतरूप अवस्था वर्तती,
फिर असत् रूप है पर्ययो 'अभाव शक्ति'[34] जीव की ॥१९॥
'भाव का होता अभाव'[35] अभाव का फिर भाव'[36] रे,
ये शक्ति दोनो साथ रहती, ज्ञान मे तू जानले ॥२०॥
जो 'भाव रहता भाव'[37] ही 'अभाव नित्य अभाव'[38] है,
स्वभाव ऐसा जीव का निजगुण से भरपूर है ॥२१॥
नहि कारको को अनु सरे ऐसा ही 'भवता भाव'[39] है;
जो कारको को अनुसरे सो 'क्रिया'[40] नामक शक्ति है ॥२२॥
है 'कर्म शक्ति'[41] आत्म मे वह धारता सिद्ध भाव को,
फिर 'कर्तृत्व' शक्ति'[42] से स्वय बन जाते भावकरूप जो ॥२३॥
है ज्ञानरूप जो शुद्धभावो उनका जो भवन है,
आत्मा स्वय उन भावो का उत्कृष्ट साधन होत है ॥२४॥

निज करण-शक्ति'[44] जानरे तू वाह्य साधन शोध ना,
आत्मा ही तेरा करण है फिर वात दूसरी पूछना ॥२५॥

निज आतमा निज आत्म को ही ज्ञान भाव जो देत है,
उसका ग्रहण है आत्म को यह 'सप्रदान'[45] स्वभाव है ॥२६॥

उत्पाद-व्यय से क्षणिक है पर ध्रुव की हानि नही,
'सेवो सदा सामर्थ्य ऐसे 'अपादान'[46] का आत्म मे ॥२७॥

भाव्यरूप जो ज्ञान भावो परिणमे है आत्म मे,
'अधिकरण'[46] उनका आत्म है सुन लो अहो निज वचन मे ॥२८॥

है 'स्व अरु स्वामित्व'[47] मेरा मात्र निज स्वभाव मे,
नही स्वत्व मेरा है कभी निज भात्र से को अन्य मे ॥२९॥

अनेकान्त है जयवन्त अहो ! निज शक्ति को प्रकाशता,
शक्ति अनन्ती मेरी वह मुझ ज्ञान मे ही दिखावता ॥३०॥

यह ज्ञान लक्षण भाव सह भावो अनन्ते उल्लसे,
अनुभव करूँ उनका अहो ! विभाव कोई नही दिखे ॥३१॥

जिन मार्ग पाया मैं अहो ! श्री गुरु वचन प्रसाद से,
देखा अहा निजरूप चेतन पार जो पर भाव से ॥३२॥

निज विभव को देखा अहो ! श्री समयसार प्रसाद से,
निज शक्ति का वैभव अहो ! यह पार है पर भाव से ॥३३॥

ज्ञान मात्र ही एक ज्ञायक पिण्ड हू मैं आतमा,
अनन्त गम्भीरता भरी मुझ आत्म ही परमात्मा ॥३४॥

आश्चर्य अद्भूत होता है निज विभव की पहचान से,
आनन्दमय आह्लाद उछले मुहूर् मुहूर् ध्यान से ॥३५॥

अद्भुत अहो ! अद्भूत अहो ! है विजयवन्त स्वभाव यह,
जयवन्त है मुझ गुरु देवने निज निधान बता दिया ॥३६॥

नित्य पूजा संग्रह

ॐ जय जय जय, नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु ।
णमो अरिहन्ताण, णमो सिद्धाण, णमो आइरियाण,
णमो उवज्झायण, णमो लोए सव्व-साहूण ।
ॐ ह्री अनादि मूल मन्त्रेभ्यो नम (पुष्पांजलि) ।
चत्तारि मगल, अरिहता मगल, सिद्धा मगल, साहू मगल,
केवलि पण्णत्तो, धम्मो मगल ।
चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा,
साहू लोगुत्तमा, केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा ।
चत्तारि सरण पव्वज्जामि, अरिहते सरण पवज्जामि, सिद्धे सरण पव्वज्जामि, साहू सरण पव्वज्जामि, केवलि पण्णत्त धम्म सरण पव्वज्जामि ।
ॐ ह्री नमो अर्हते स्वाहा । (पुष्पाजलि) ।

अपवित्र हो या पवित्र, जो णमोकार को ध्याता है ।
चाहे सुस्थित हो या दुस्थित, पाप मुक्त हो जाता है ।।१।।
हो पवित्र अपवित्र दशा, कैसी भी क्यो नहि हो जनकी ।
परमातम का ध्यान किये, हो अन्तर वाहर शुचि उनकी ।।२।।
है अजेय विघ्नो का हर्ता, णमोकार यह मत्र महा ।
सव मगल मे प्रथम सुमगल, श्री जिनवर ने एम कहा ।।३।।
सब पापो का है क्षय कारक, मगल मे सबसे पहला ।
नमस्कार या णमोकार यह मत्र जिनागम मे पहला ।।४।।
अर्ह ऐसे परम ब्रह्म-वाचक, अक्षर का ध्यान धरूँ ।
सिद्ध चक्र का सद्बीजाक्षर, मन वचकाय प्रणाम करूँ ।।५।।
अष्ट कर्म से रहित मुक्ति-लक्ष्मी, के घर श्री सिद्ध नमूं ।
सम्यक्त्वादि गुणो से सयुत, तिन्हे ध्यान धर कर्म वमूं ।।६।।
जिनवर की भक्ति से होते, विघ्न समूह अन्त जानो ।
भूत शाकिनी सर्प शान्त हो, विप निर्विष होता मानो ।।७।।

उदक चदन तदुल पुष्पकै, चरुसुदीप सुधूपफलार्घ्यकै ।
धवल मगल गान रवाकुले, जिनगृहे जिन नाम मह यजे ॥

ॐ ह्रीं श्री भगवज्जिनेन्द्र सहस्रनामभ्यो अर्घ्यम् निर्वपामीति स्वाहा ।

स्वस्ति—मंगलम्

श्री वृषभोः स्वस्ति, स्वस्ति श्री अजित । श्री सभव स्वस्ति, स्वस्ति श्री अभिनन्दन ।

श्री सुमति स्वस्ति, स्वस्ति श्री पदम प्रभ । श्री सुपार्श्व स्वस्ति, स्वस्ति श्री चन्द्रप्रभ ।

श्री पुष्पदन्त स्वस्ति स्वस्ति श्री शीतल । श्री श्रेयान स्वस्ति, स्वस्ति श्री वासुपूज्य ।

श्री विमल स्वस्ति, स्वस्ति श्री अनत । श्री धर्म स्वस्ति, स्वस्ति श्री शान्ति ।

श्रीकुन्थुः स्वस्ति, स्वस्ति श्री अरनाथ । श्री मल्लि स्वस्ति, स्वस्ति श्री मुनिसुव्रत ।

श्री नमि स्वस्ति, स्वस्ति श्री नेमिनाथ । श्री पार्श्व स्वस्ति, स्वस्ति श्री वर्धमान ।

विनय पाठ

हे नाथ ! मैं मिथ्यात्व वश, ससार मे फिरता रहा ।
इक बोधि लाभ बिना अनन्तो, व्यर्थ भव धरता रहा ॥१॥

देव पूजा ना करी, नहिं पात्रदान कभी दिया ।
जिन वैन भी न सुने कभी, चारित्र भी नही रख सका ॥२॥

है निर्विकल्प स्वभाव सिद्ध, अरु एक केवल आतमा ।
भूलकर उसको सदा, मैं टक्करें खाता रहा ॥३॥

अस्थि मज्जा चाम से, निर्मित अथिर ससार मे ।
रमता रहा भ्रमता रहा, नहिं शरण कोई पा सका ॥४॥

आज मेरा पुण्य जागा, आपके दर्शन हुए ।
पाई शरण, आलोक सा सहसा हृदय पर छा गया ॥५॥

नाचने गाने लगा, यह नाद सा, आने लगा ।
कुछ अन्य मुझको, नहिं शरण, है शरण इक परमात्मा ॥६॥

काल लब्धि आज जागी, शान्ति पथ मुझको मिला ।
आज निश्चय हो गया, पाउँगा जीवन की कला ॥७॥

आज जग के कीट को भी, जिनेन्द्र पद मिल जायेगा ।
आज इस विक्षिप्त सर मे, भी कमल खिल जायेगा ॥८॥

ॐ ह्री श्री चतुर्विशति तीर्थङ्कराय नम (पुष्पांजलि)

(९) श्री देव शास्त्र गुरु पूजा

(श्री युगलजी)

केवल रवि किरणो मे जिसका सम्पूर्ण प्रकाशित है अतर ।
उसश्री जिनवाणी मे होता, तत्वो का सुन्दरतम दर्शन ॥
सद्दर्शन बोध चरण पथ पर, अविरल जो वढते हैं मुनिगण ।
उन देव परम आगम गुरु को, शत्‌शत् वदन शत्‌शत् वदन ॥

ॐ ह्री श्री देवशास्त्रगुरुसमूह ! अत्र अवतर अवतर सवौषट् आह्वानन् ।
ॐ ह्री श्री देवशास्त्रगुरुसमूह ! अत्र तिष्ठ-तिष्ठ ठ ठ स्थापनम् ।
ॐ ह्री श्री देवशास्त्रगुरुसमूह ! अत्र मम सन्निहितो भवभव वषट् ।

इन्द्रिय के भोग मधुर विषसम, लावण्यमयी कचन काया ।
यह सब कुछ जड की क्रीडा है, मैं अब तक जान नही पाया ॥
मैं भूल स्वय के वैभव को, पर ममता मे अटकाया हू ।
अब निर्मल सम्यक् नीर लिये, मिथ्या मल धोने आया हू ॥

ॐ ह्री देवशास्त्रगुरुभ्य जन्म जरा मृत्यु विनाशाय जल निर्वपामीति स्वाहा ॥१॥

जड चेतन की सब परिणति प्रभु ! अपने-अपने मे होती है ।
अनुकूल कहे, प्रतिकूल कहे, यह झूठी मन की वृत्ती है ॥

प्रतिकूल सयोगो मे क्रोधित होकर ससार बढाया है।
सन्तप्त हृदय प्रभु ! चन्दनसम, शीतलता पाने आया है ॥

ॐ ह्री देवशास्त्रगुरुभ्य ससार ताप विनाशनाय चदन निर्वपामीति स्वाहा ॥३॥

उज्ज्वल हू कुन्दधवल हू प्रभु ! परसे न लगा हू किचित् भी।
फिर भी अनुकूल लगें उन पर, करता अभिमान निरतर ही।
जड पर झुक-झुक जाता चेतन, की मार्दव की खडित काया।
निजशाश्वत अक्षयनिधि पाने, अब दास चरण रज मे आया ॥

ॐ ह्री देवशास्त्रगुरुभ्य अक्षयपद प्राप्तये अक्षत निर्वपामीति स्वाहा ॥-॥

यह पुष्प सुकोमल कितना है, तन मे माया कुछ शेष नही।
निज अन्तर का प्रभु ! भेद कहू, उसमे ऋजुता का लेश नही ॥
चितन कुछ फिर सभापण कुछ, किरिया कुछकी कुछ होती है।
स्थिरता निज मे प्रभु पाऊँजो, अन्तर कालुप धोती है ॥

ॐ ह्री देवशास्त्रगुरुभ्य कामवाण विध्वसनाय पुष्प निर्वपामीति स्वाहा ॥४॥

अवतक अगणित जडद्रव्यो से प्रभु ! भूख न मेरी शान्त हुई।
तृष्णा की खाई खूब भरी, पर रिक्त रही वह रिक्त रही ॥
युग-युग से इच्छा सागर मे, प्रभु ! गोते खाता आया हूँ।
पचेन्द्रिय मन के षट्रस तज अनुपम रस पीने आया हूँ।

ॐ ह्री देवशास्त्रगुरुभ्य क्षुधारोग विनाशनाय नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा ॥५॥

जग के जड दीपक को अबतक, समझा था मैंने उजियारा।
झझा के एक झकोरे मे, जो बनता घोर तिमिर कारा ॥
अतएव प्रभो ! यह नश्वर दीप, समर्पण करने आया हूँ।
तेरी अतर लौ से निज अतर, दीप जलाने आया हूँ ॥

ॐ ह्री देवशास्त्रगुरुभ्य मोहाधकार विनाशनाय दीप निर्वपामीति स्वाहा ॥६॥

जड कर्म घुमाता है मुझको, यह मिथ्या भ्रान्ति रही मेरी।
मै राग द्वेप किया करता, जब परिणति होती जडकेरी ॥
यो भावकरम या भावमरण सदियो से करता आया हू।
निज अनुपम गध अनल से प्रभु ! पर गध जलाने आया हू ॥

ॐ ह्री देवशास्त्रगुरुभ्य अप्टकर्म दहनाय धूप निर्वपामीति स्वाहा ॥७॥

जग मे जिसको निज कहता मैं, वह छोड मुझे चल देता है ।
मैं आकुल व्याकुल हो लेता, व्याकुल का फल व्याकुलता है ।।
मैं शान्त निराकुल चेतन हू, है मुक्तिरमा सहचर मेरी ।
यह मोह तडक कर टूट पडे, प्रभु ! सार्थक फल पूजा तेरी ।।

ॐ ह्री देवशास्त्रगुरुभ्य मोक्षफलप्राप्तये फलम् निर्वपामीति स्वाहा ।।८।।

क्षणभर निजरस को पी चेतन, मिथ्यामल को धो देता है ।
काषायिक भाव विनष्ट किये, निज आनद अमृत पीता है ।।
अनुपम सुखतब विलसित होता, केवल रवि जगमग करता है ।
दशन बल पूर्ण प्रगट होता, यह ही अर्हन्त अवस्था है ।।
यह अर्घ समर्पण करके प्रभु, निज गुण का अर्घ बनाऊँगा ।
और निश्चित तेरे सदृश प्रभु, अर्हन्त अवस्था पाऊँगा ।।

ॐ ह्री देवशास्त्रगुरुभ्यो ऽनर्घ्यपदप्राप्तये महार्घ निर्वपामीति स्वाहा ।।९।।

स्थतन

वारह—भववन मे जीभर घूम चुका, कण-कण को जीभर-भर देखा ।
भावनाये मृग-सम मृगतृष्णा के पीछे, मुझको न मिली सुख की रेखा ।।
अनित्य—झूठे जग के सपने सारे, झूठी मन की सब आशाये ।
तन जीवन यौवन अस्थिर है, क्षणभगुर पल मे मुरझाये ।।
अशरण—सम्राट महाबल सेनानी, उस क्षण को टाल सकेगा क्या ।
अशरण मृतकाया मे हर्षित, निज जीवन डाल सकेगा क्या ।।
ससार—ससार महादुख सागर के, प्रभु दुखमय सुख आभासो मे ।
मुझको न मिला सुख क्षणभर भी, कचन कामिनि प्रासादो मे ।
एकत्व—मैं एकाकी एकत्व लिये, एकत्व लिये सब ही आते ।
तन धन को साथी समझा था, पर ये भी छोड चले जाते ।
अन्यत्व—मेरे न हुये मैं इन से अति, भिन्न अखण्ड निराला हू ।
निज मे पर से अन्यत्व लिये, निज समरस पीने ल न

अशुचि—जिसके शृङ्गारो मे मेरा यह, महगा जीवन घुल जाता।
अत्यन्त अशुचि जड काया से, इस चेतन का कैसा नाता॥
आस्रव—दिनरात शुभाशुभ भावो से, मेरा व्यापार चला करता।
मानस वाणी और काया से, आस्रव का द्वार खुला रहता॥
सवर—शुभ और अशुभ की ज्वाला से, झुलसा है मेरा अन्तस्तल।
शीतल समकित किरणे फूटे, सवर मे जागे अन्तर्बल॥
निर्जरा—फिर तप की शोधक वह्नि जगे, कर्मों की कडिया टूट पडे।
सर्वांग निजात्म प्रदेशो मे, अमृत के झरने फूट पडे॥
लोक—हम छोड चले यह लोक तभी, लोकान्त विराजे क्षण मे जा।
निजलोक हमारा वासा हो, शोकान्त बने फिर हमको क्या॥
बोधिदुर्लभ-जागे मम दुर्लभ बोधि प्रभु, दुर्नयतम सत्वर टल जावे।
बस ज्ञाता दृष्टा रह जाऊँ, मद मत्सर मोह विनश जावे॥
धर्म—चिर रक्षक धर्म हमारा हो, हो धर्म हमारा चिर साथी।
जग मे न हमारा कोई था, हम भी न रहे जग के साथी॥

चरणो मे आया हू प्रभुवर, शीतलता मुझको मिल जावे।
मुरझाई ज्ञान-लता मेरी, निज अन्तर्बल से खिल जावे॥
सोचा करता हू भोगो से, बुझ जावेगी इच्छा-ज्वाला।
परिणाम निकलता है लेकिन, मानो पावक मे घी डाला॥
तेरे चरणो की पूजा से, इन्द्रिय सुख की ही अभिलाषा।
अब तक ना समझ ही पाया प्रभुवर! सच्चे सुखकी मैं परिभाषा॥
तुम तो अविकारी हो प्रभुवर! जग मे रहते जग से न्यारे।
अतएव झुके तव चरणो मे, जग के माणिक-मोती सारे॥
स्याद्वादमयी तेरी वाणी, शुभनय के झरने झरते हैं।
उस पावन नौका पर लाखो, प्राणी भव वारिधि तिरते हैं॥
हे गुरुवर शाश्वत सुखदर्शक, यह नग्नस्वरूप तुम्हारा है।
जग की नश्वरता का सच्चा, दिग्दर्शन करने वाला है॥

जब जग विषयो मे रचपच कर, गाफिल निद्रा मे सोता हो ।
अथवा वह शिव के निष्कटक, पथ मे विष कटक बोता हो ।।
हो अर्द्ध निशा का सन्नाटा, वन मे वनचारी चरते हो ।
तब शात निराकुल मानस तुम, तत्वो का चितन करते हो ।।
करते तप शैल नदी तट पर, तरुतल वर्षा की झडियो मे ।
समता रसपान किया करते सुखदुख दोनो की घडियो मे ।।
अन्तर ज्वाला हरती वाणी मानो झडती हो फुलझडियाँ ।
भवबन्धन तड-तड टूट पडे, खिल जावें अतर की कलिया ।।
तुमसा दानी क्या कोई हो, जग को दे दी जग की निधियाँ ।
दिनरात लुटाया करते हो, शम-शम की अविनश्वर मणियाँ ।।
हे निर्मल देव ! तुम्हे प्रणाम, हे ज्ञानदीप आगम ! प्रणाम ।
हे शान्ति त्याग के मूर्तिमान, शिव-पथ-पथी गुरुवर ! प्रणाम ।।
ॐ ह्री देवशास्त्रगुरुभ्यो अनर्घ्य पदप्राप्यये महार्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

(१०) श्रीदेव शास्त्र गुरु, विदेह क्षेत्र विद्यमान तीर्थंकर तथा अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठी पूजा

दोहा—देवशास्त्र गुरु नमनकरि, बीस तीर्थंकर ध्याय ।
सिद्ध शुद्ध राजत सदा, नमू चित्त हुलसाय ।।

ॐ ह्री श्री देव शास्त्र गुरु समूह ! श्री विद्यमान विंशति तीर्थंकर समूह । श्री अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठी समूह । अत्रावतरावतर सवौष्ट । अत्र तिष्ठ-तिष्ठ ठ ठ स्थापनम् । अत्र ममसन्निहितो भव-भव वषट् सन्निधीकरणम् ।

अष्टकम्

अनादिकाल से जग मे स्वामिन् जल से शुचिता को माना ।
शुद्ध निजातम सम्यक्, रत्नत्रयनिधि को नहिं पहिचाना ॥
अब निर्मल रत्नत्रय जलले, श्री देव शास्त्र गुरु को ध्याऊँ ।
विद्यमान श्री बीस तीर्थंकर, सिद्ध प्रभु के गुण गाऊँ ॥

ॐ ह्री श्री देवशास्त्रगुरुभ्य श्री विद्यमान विंशति तीर्थङ्करेभ्य, श्री अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठिभ्यो, जन्मजरामृत्यु विनाशनाय जल निर्वपामीति स्वाहा ।

भव आताप मिटावन की निज मे ही क्षमता समता है ।
अनजाने अब तक मैंने पर मे की झूठी ममता है ॥
चन्दन सम शीतलता पाने श्री देव शास्त्र गुरु को ध्याऊँ ।
विद्यमान श्री बीस तीर्थंकर, सिद्ध प्रभु के गुण गाऊँ ॥

ॐ ह्री श्री देवशास्त्र गुरुभ्य, श्री विद्यमान विंशति तीर्थङ्करेभ्य श्री अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठिभ्य, ससार ताप विनाशनाय चन्दन निर्वपामीति स्वाहा ।

अक्षयपद के बिना फिरा, जगत की लख चौरासी योनि मे ।
अष्ट कर्म के नाश करन को, अक्षत तुम ढिग लाया मैं ॥
अक्षय निधि निज की पानें अब, देव शास्त्र गुरु को ध्याऊँ ।
विद्यमान श्री बीस तीर्थंकर, सिद्ध प्रभु के गुण गाऊँ ॥

ॐ ह्री देवशास्त्रगुरुभ्य, श्री विद्यमान विंशति तीर्थङ्करेभ्य, श्री अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठिभ्य अक्षयपद प्राप्तये अक्षत निर्वपामीति स्वाहा ।

पुष्प सुगन्धी से आतम ने, शील स्वभाव नशाया है ।
मन्मथ बाणो से विंध करके, चहुगति दुख उपजाया है ।
स्थिरता निज मे पाने को श्री देवशास्त्र गुरु को ध्याऊँ ।
विद्यमान श्री बीस तीर्थंकर, सिद्ध प्रभु के गुण गाऊँ ॥

ॐ ह्री श्री देवशास्त्रगुरुभ्य, श्री विद्यमान विंशति तीर्थंकरेभ्य श्री अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठिभ्य कामबाण विध्वसनाय पुष्प निर्वपामीति स्वाहा ।

षट्रस मिश्रित भोजन से ये भूख न मेरी शान्त हुई।
आतम रस अनुपम चखने से, इन्द्रिय मन इच्छा शमन हुई ।।
सर्वथा भूख के मेटन को, श्री देवशास्त्र गुरु को ध्याऊँ।
विद्यमान श्री बीस तीर्थङ्कर, सिद्ध-प्रभु के गुण गाऊँ।

ॐ ह्री देवशास्त्रगुरुभ्य श्री विद्यमान विंशति तीर्थंकरेभ्य, श्री अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठिभ्य क्षुधारोग विनाशाय नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा ।

जड दीप विनश्वर को, अब तक समझा था मैंने उजियारा।
निज गुण दरशायक ज्ञान दीप से, मिटा मोह का अंधियारा ।।
ये दीप समर्पित करके मैं श्रीदेव शास्त्र गुरु को ध्याऊँ।
विद्यमान श्री बीस तीर्थङ्कर, सिद्ध प्रभु के गुण गाऊँ ।।

ॐ ह्री श्री देवशास्त्रगुरुभ्य, श्री विद्यमान विंशति तीर्थंकरेभ्यः, श्री अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठिभ्य मोहान्धकार विनाशनाय दीप निर्वपामीति स्वाहा।

ये धूप अनल मे खेने से, कर्मों को नही जलायेगी।
निज मे निज की शक्ति ज्वाला, जो राग द्वेश नशायेगी ।।
उस शक्ति दहन प्रगटाने को, श्री देवशास्त्र गुरु को ध्याऊँ।
विद्यमान श्री बीस तीर्थङ्कर, सिद्ध-प्रभु के गुण गाऊँ ।।

ॐ ह्री श्री देवशास्त्रगुरुभ्य, श्री विद्यमान विंशति तीर्थंकरेभ्य श्री अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठिभ्य अष्टकर्म दहनाय धूप निर्वपामीति स्वाहा।

पिस्ता, बदाम, श्रीफल, लवग चरणन तुम ढिग मैं ले आया।
आतम रस भीने निज गुण फल, मम मन अब उनमे ललचाया।
अब मोक्ष महाफल पाने को, श्री देवशास्त्र गुरु को ध्याऊं।
विद्यमान श्री बीस तीर्थङ्कर, सिद्ध प्रभु के गुण गाऊँ ।।

ॐ ह्री श्री देवशास्त्रगुरुभ्य, श्री विद्यमान विंशति तीर्थंकरेभ्य, श्री अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठिभ्यो, मोक्षफलप्राप्तये फल निर्वपामीति स्वाहा।

अष्टम् वसुधा पाने को, कर मे ये आठो द्रव्य लिये।
सहज शुद्ध स्वाभाविकता से, निज मे निज गुण प्रकट किये ।।

ये अर्घ्य समर्पण करके मै श्री देवशास्त्र गुरु को ध्याऊँ।
विद्यमान श्री बीस तीर्थङ्कर, सिद्ध प्रभु के गुण गाऊँ ॥
ॐ ह्री श्री देवशास्त्र गुरुभ्य, श्री विद्यमान विंशति तीर्थंकरेभ्य श्री अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठिभ्योऽनर्घ पदप्राप्तये अर्घ्य निर्वपामीति स्वाहा।

जयमाला

नसे घातिया कर्म अर्हन्त देवा, करे सुर असुर नर मुनि नित्य सेवा।
दरश ज्ञान सुख बल अनन्त के स्वामी, छियालिस गुण युक्त महा ईश नामी ॥
तेरी दिव्य वाणी सदा भव्य मानी, महा मोह विध्वंसिनी मोक्ष दानी।
अनेकान्तमय द्वादशागी वखानी, नमो लोक माता श्री जैन वाणी ॥
विरागी अचारज उवज्झाय साधू, दरश ज्ञान भण्डार समता अराधू।
नगन वेपधारी सु एका विहारी निजानन्द मडित मुकति पथ प्रचारी ॥
विदेह क्षेत्र मे तीथङ्कर बीस राजे, विरहमान वन्दु सभी पाप भाजे।
नमू सिद्ध निर्भय निरामय सुधामी, अनाकुल समाधान सहजाभिरामी ॥

छन्द

देव शास्त्र गुरु बीस तीर्थङ्कर सिद्ध हृदय विच धरले रे।
पूजन ध्यान गान गुण करके भवसागर जिय तरले रे ॥
ॐ ह्री श्री देवशास्त्रगुरुभ्य, श्री विद्यमान विंशति तीर्थंकरेभ्य, श्रीअनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठिभ्य अनर्घपदप्राप्तये अर्घ्य निर्वपामीति स्वाहा।

भूत भविष्यत् वर्तमान की, तीस चौबीसी मैं ध्याऊँ।
चैत्य चैत्यालय कृत्रिमाकृत्रिम, तीन लोक के मन लाऊँ ॥
ॐ ह्री त्रिकाल सम्बन्धी तीन चौबीसी त्रिलोक सम्बन्धी कृत्रिमाकृत्रिम चैत्यालयेभ्य अर्घ निर्वपामीति स्वाहा।

चैत्य भक्ति आलोचना चाहूं, कायोत्सर्ग अघ नाशन हेत।
कृत्रिमाकृत्रिम तीन लोक मे राजत है जिन बिम्ब अनेक ॥
चतुर निकाय के देव जजे ले, अष्ट द्रव्य निज भक्ति समेत।
निज शक्ति अनुसार जजूं मैं, कर समाधि पाऊँ खेत ॥
(पुष्पाजलि क्षिपेत्)

(११) श्री पंच परमेष्ठी पूजन

(राजमल पवैया)

अर्हंत सिद्ध आचार्य नमन, हे उपाध्याय हे साधु नमन।
जय पच परम परमेष्ठी जय, भव सागर तारण हरि नमन।।

मन वच काया पूर्वक करता, हू शुद्ध हृदय से आह्वान।
मम हृदय विराजो तिष्ठ तिष्ठ, सन्निकट होहु मेरे भगवान।।

निज आत्म तत्त्व की प्राप्ति हेतु, ले अष्ट द्रव्य करता पूजन।
तुम चरणो की पूजन से प्रभु, निज सिद्ध रूप का हो दर्शन।।

ॐ ह्री श्री अरहत-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय-सर्वसाधु पच परमेष्टिन्!
अत्र अवतर अवतर सवौषट आह्वानन। अत्र तिष्ठ ठ ठ स्थापनम्।
अत्र मम सन्निहितो भव-भव वषट् सन्निधीकरण।

मै तो अनादि से रोगी हू, उपचार कराने आया हू।
तुम मम उज्ज्वलता पाने को, उज्ज्वल जल भर कर लाया हू।।

मैं जन्म जरा मृत नाश करूँ, ऐसी दो शक्ति हृदय स्वामी।
हे पच परम परमेष्ठी प्रभु, भव दु ख मेटो अन्तर्यामी।।

ॐ ह्री श्री पच परमेष्ठिभ्यो जन्म जरा मृत्यु विनाशनाय जल निर्वपामिति स्वाहा।

ससार ताप मे जल-जल कर, मैंने अगणित दु ख पाए है।
निज शान्त स्वभाव नही भाया, पर के ही गीत सुहाए है।।

शीतल चन्दन है भेंट तुम्हे, ससार ताप नाशो स्वामी।
हे पच परम परमेष्ठी प्रभु, भव दु ख मेटो अन्तर्यामी।।

ॐ ह्री पच परमेष्ठिभ्यो ससारताप विनाशनाय चन्दन निर्वपामीति स्वाहा।

दु खमय अथाह भव सागर मे, मेरी यह नौका भटक रही।
शुभ-अशुभ भाव की भवरो मे, चैतन्य शक्ति निज अटक रही।।

तन्दुल हैं धवल तुम्हे अर्पित, अक्षयपद प्राप्त करूँ स्वामी।
हे पच परम परमेष्ठी प्रभु, भव दुख मेटो अन्तर्यामी॥
ॐ ह्री श्री पच परमेष्ठिभ्यो अक्षय पद प्राप्तये अक्षत निर्वपामिति स्वाहा।

मैं काम व्यथा से घायल हूँ, सुख की न मिली किञ्चित् छाया।
चरणो मे पुष्प चढाता हूँ, तुम को पाकर मन हर्षाया॥
मैं काम भाव विध्वस करू, ऐसा दो शील हृदय स्वामी।
है पच परम परमेष्ठी प्रभु, भव दुख मेटो अन्तर्यामी॥
ॐ ह्री श्री पचपरमेष्ठिभ्यो काम वाण विध्वसनाय पुष्प निर्वपामिति स्वाहा।

मैं क्षुधा रोग से व्याकुल हूँ, चारो गति मे भरमाया हूँ।
जग के सारे पदार्थ पाकर भी तृप्त नही हो पाया हूँ॥
नैवेद्य समर्पित करता हूँ, यह क्षुधा रोग मेटो स्वामी।
हे पच परम परमेष्ठी प्रभु, भव दुख मेटो अन्तर्यामी॥
ॐ ह्री श्री पचपरमेष्ठिभ्यो क्षुधारोग विनाशनाय नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा।

मोहान्ध महाअज्ञानी मे, निज को पर का कर्त्ता माना।
मिथ्यातम के कारण मैंने, निज आत्म स्वरूप न पहचाना॥
मैं दीप समर्पण करता हूँ, मोहाधकार क्षय हो स्वामी।
हे पच परम परमेष्ठी प्रभु, भव दुख मेटो अन्तर्यामी॥
ॐ ह्री श्री पचपरमेष्ठिभ्यो मोहाधकार विनाशनाय दीप नि`पामीति स्वाहा।

कर्मों की ज्वाला धधक रही, ससार वढ रहा प्रतिपल।
सवर से आश्रव को रोकूं, निर्जरा सुरभि महके पल पल॥
मैं धूप चढाकर अब आठो, कर्मों का हनन करूँ स्वामी।
हे पच परम परमेष्ठी प्रभु, भव दुख मेटो अन्तर्यामी॥
ॐ ह्री श्री पचपरमेष्ठिभ्यो अष्ट कर्म दहनाय धूप निर्वपामीति स्वाहा।

निज आत्म तत्व का ममन करूँ, चितवन करूँ निज चेतन का।
दो श्रद्धा ज्ञान चरित्र श्रेष्ठ, सच्चा पथ मोक्ष निकेतन का॥

उत्तम फल चरण चढता हूँ, निर्वाण महाफल हो स्वामी।
हे पच परम परमेष्ठी प्रभु, भव दुख मेटो अन्तर्यामी ।।
ॐ ह्नी श्री पचपरमेष्ठिभ्यो मोक्षफल प्राप्तयेफल निर्वपामीति स्वाहा।
जल चन्दन अक्षत पुष्प दीप, नैवेद्य धूप फल लाया हूँ।
अव तक के सचित कर्मों का, मैं पुन्ज जलाने आया हूँ ।।
यह अर्घ समर्पित करता हूँ, अविचल अनर्घ्यपद दो स्वामी।
हे पच परम परमेष्ठी प्रभु, भाव दुख मेटो अन्तर्यामी ।।
ॐ ह्नी श्री पच परमेष्ठिभ्यो अनर्घ्य पद प्राप्तये अर्घ्यम् निर्वपामीति स्वाहा।

जयमाला

जय वीतरागसर्वज्ञ प्रभो, निज ध्यान लीन गुणमय अपार।
अष्टादस दोष रहित जिनवर, अर्हत देव को नमस्कार ।।
अविकल अविकारी अविनाशी, निजरूप निरजन निराकार।
जय अजर अमर हे मुक्तिकत, भगवत सिद्ध को नमस्कार ।।
छतीस सुगुण से तुम मण्डित, निश्चय रत्नत्रय हृदय धार।
हे मुक्ति वधू के अनुरागी, आचार्य सुगुरु को नमस्कार ।।
एकादश अग पूर्व चौदह के, पाठी गुण पच्चीस धार।
बाह्यान्तर मुनि मुद्रा महान्, श्री उपाध्याय को नमस्कार ।।
व्रत समिति गुप्ति चारित्र धर्म, वराग्य भावना हृदय धार।
हे द्रव्य भाव सयम मय मुनि, सर्व साधु को नमस्कार ।।
वहु पुण्य सयोग मिला नरतन, जिनश्रुत जिन देव चरणदर्शन।
हो सम्यग्दर्शन प्राप्त मुझे, तो सफल वने मानव जीवन ।।
निज पर का भेद जानकर मैं, निज को हो निज मे लीन करूँ।
अब भेद ज्ञान के द्वारा मैं, निज आत्म स्वय स्वाधीन करूँ ।।
निज मे रत्नत्रय धारण कर, निज परणिति को ही पहचानूँ।
पर परणति से हो विमुख सदा, निज ज्ञान तत्व को ही जानूँ ।।
जब ज्ञान ज्ञेय ज्ञाता विकल्प तज, शुक्ल ध्यान मैं ध्याऊँगा।
तब चार घातिया क्षय करके, अर्हत महापद पाऊँगा ।।

है निश्चित् सिद्ध स्वपद मेरा, हे प्रभु कब इसको पाऊँगा।
सम्यक् पूजा फल पाने को, अब निज स्वभाव मे आऊँगा॥
अपने स्वरूप की प्राप्ति हेतु, हे प्रभु मैंने की है पूजन।
तब तक चरणो मे ध्यान रहे, जब तक न प्राप्त हो मुक्ति सदन॥
ॐ ह्रीं श्री अर्हन्त-सिद्ध-आचार्य-उपाध्यायसर्वसाधु पच परमेष्ठिभ्यो अर्घम् निर्वपामीति स्वाहा।

श्री शान्तिनाथ जिन पूजा

मत्तगयन्द छन्द (यमकालकार)

या भवकाननमे चतुरानन, पापपनानन घेरि हमेरी।
आतमजान न मान न ठान न, बान न होइ दई सठ गेरी॥
तामद भानन आपहि हो, यह छान न आन न आननटेरी।
आन गही शरनागतको, अब श्रीपतजी पत राखहु मेरी॥१॥
ॐ ह्रीं श्रीशान्तिनाथ जिनेन्द्र ! अत्रावतर अवतर, सवौषट्।
ॐ ह्रीं श्रीशान्तिनाथ जिनेन्द्र ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ, ठ ठ।
ॐ ह्रीं श्रीशान्तिनाथ जिनेन्द्र ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्।
[अष्टक] छन्द त्रिभगी। अनुप्रासक। (मात्रा ३२ जगनवर्जित।)
हिमगिरिगतगगा, धार अभगा, प्रासुक सगा, भरि भृगा।
जरजन्म मृतगा, नाशि अघगा, पूजि पदगा मृदुहिगा॥
श्रीशान्तिजिनेश, नुतनाकेश, वृषचक्रेश चक्रेश।
हनि अरिचक्रेश, हे गुनधेश, दयामृतेश मक्रेश॥१॥
ॐ ह्रीं श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय जन्मजरामृत्युविनाशनाय जल नि स्वा
वर बावनचदन, कदलीनदन घनआनदन सहित घसो।
भवतापनिकन्दन, ऐरानदन, वदि अमदन, चरन वसो।श्री ।२।
ॐ ह्रीं श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय भवतापविनाशनाय चदन नि० स्वाहा।
हिमकरकरि लज्जत, मलयसुसज्जत, अच्छत जज्जत भरिथारी।
दुखदारिद गज्जत, सदपदसज्जत, भवभयभज्जत अतिभारी।श्री।
ॐ ह्रीं श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्व स्वाहा।

मदार सरोज कदली जोज, पुज भरोज, मलयभर।
भरि कचनथारी, तुमढिग धारी, मदनविदारी धीरधर।श्री। ।४।
ॐ ह्री श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय कामबाणविध्वसनाय पुष्प नि० स्वाहा।
पकवान नवीने, पावन कीने, षटरसभीने सुखदाई।
मनमोदनहारे, क्षुधा विदारे, आगे धारे, गुनगाई ।।श्री।। ।५।
ॐ ह्री श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य नि० स्वाहा।
तुम ज्ञानप्रकाशे, भ्रमतमनाशे, ज्ञेयविकाशे सुखराशे।
दीपक उजियारा, यातै धारा, मोह निवारा, निजभासे।श्री। ।६।
ॐ ह्री श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय मोहाधकारविनाशनाय दीप नि० स्वाहा
चन्दन करपूर करिवर चूर, पावक भूर, माहिजुर।
तसु धूम उडावै, नाचत गावै, अलि गुजावै, मधुरसुर।श्री। ।७।
ॐ ह्री श्री शान्तिनाथजिनेन्द्राय अष्टकर्मदहनाय धूप निर्व० स्वाहा।
बादाम खजूर, दाडिम पूर, निंबुक भूर, लै आयो।
तासो पद जज्जो, शिवफल सज्जो, निजरसरज्जो, उमगायो।श्री।
ॐ ह्री श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय मोक्षफलप्राप्तये फल नि० स्वाहा।
वसु द्रव्य नवारी, तुमढिग धारी, आनन्दकारी दृगप्यारी।
तुम हो भवतारी, करुनाधारी, यातै थारी, शरनारी।श्री। ।९।
ॐ ह्री श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्य नि० स्वाहा।

[पच कल्याणक अर्घ] [सुन्दरी तथा द्रुत विलबित छन्द]

असित सातय भादव जानिये। गरभमगल तादिन मानिये।
शचि कियो जननी पद चर्चन। हम करै इत ये पद अर्चनन।१।
ॐ ह्रीभाद्रपकृष्णासप्तम्या गर्भमगलमडिताय श्रीशातिनाथायार्घ्य।
जनम जेठ चदुर्दशि श्याम है। सकलइन्द्र सु आगत धाम है।।
गजपुरै गज साजि सबै तबै। गिरि जजै इत मैं जजि हो अबै।।
ॐ ह्री ज्येष्ठकृष्णाचतुर्दश्या जन्ममगलप्राप्ताय श्रीशातिनाथायार्घ्य०।
भव शरीर सुभोग असार है। इमि विचार तबै तप धार हैं।।
भ्रमर चौदशि जेठ सुहावनी। धरमहेत जजो गुन पावनी।।
ॐ ह्री ज्येष्ठकृष्णाचतुर्दश्या तपमगलमडिताय श्रीशातिनाथायार्घ्य०।

शुकलपौष दशैं सुखराश है। परम-केवल-ज्ञान प्रकाश है॥
भवसमुद्रउधारन देवकी। हम करैं नित मगल सेवकी॥४॥
ॐ ह्री पौषशुक्लादशम्यां केवलज्ञानप्राप्ताय श्रीशांतिनाथायार्घ्यं०।
असित चौदशि जेठ हन अरी। गिरि समेदथकी शिव-तिय-वरी।
सकलइन्द्र जजै तित आयकै। हम जजै इत मस्तक नायकै॥५॥
ॐ ह्री ज्येष्ठकृष्णाचतुर्दश्यां मोक्षमगलप्राप्ताय श्रीशातिनाथायार्घ्यं०।
[जयमाला] छंद रथोद्धता, चद्रवत्म तथा चद्रवत्स, वर्ण ११ लाटानुप्रास।
शाति शातिगुनमडिते सदा। जाहि ध्यावत सु पडिते सदा॥
मैं तिन्हे भक्तिमडिते सदा। पूजिहो कलुपहडिते सदा॥१॥
मोक्षहेत तुम ही दयाल हो। हे जिनेश गुनरत्नमाल हो।
मैं अवै सुगुनदाम ही धरो। ध्यावते तुरित मुक्ति-ती वरो।२।

छन्द पद्धरि (१६ मात्रा)

जय शातिनाथ चिद्रूपराज। भवसागरमे अद्‌भुत जहाज॥
तुम तजि सरवारथसिद्धथान। सरवारथजुत गजपुर महान।१।
तित जनम लियौ आनन्द धार। हरि ततछिन आयौ राजद्वार।
इन्द्रानी जाय प्रसूतथान। तुमको करमे लै हरष मान॥२॥
हरि गोद देय सो मोदधार। सिर चमर अमर ढारत अपार॥
गिरिराज जाय तित शिला पाड। तापै थाप्यौ अभिषेक माड।३।
तित पचमउदधि तनो सु वार। सुरकर करकरि ल्याये उदार।
तब इन्द्र सहसकर करि अनद। तुम सिर धारा ढारयौ सुनद।
अघ घघघघघघ धुनि होत घोर। भभभभभभ धधधध कलशशोर
दृमदृमदृमदृम बाजत मृदग। झन नननननननन नूपुरग।५।
तनननननननन तनन तान। घनननननन घटा करत ध्वनि॥
ता थेईथेइथेइथेइथेइ सुचाल। जुत नाचत नावत तुमहि भाल।६।
चटचटचट अटपट नटत नाट। झटझटझट हट नट शट विराट।
इमि नाचत राचत भगतरग। सुर लेत जहा आनन्द सग।७।
इत्यादि अतुलमगल सुठाट। तित बन्यौ जहा सुरगिरि विराट।
पुनि करिनियोग पितुसदन आया। हरि सौंप्यौ तुम तितवृद्धथाय।८।

पुनि राजमाहिं लहि चक्ररत्न। भोग्यौ छखण्ड करि धरम जत्न
पुनि तप धरि केवलरिद्धिपाय। भवि जीवनको शिवमग बताय।
शिवपुर पहुंचे तुम हे जिनेश। गुनमंडित अतुल अनन्त भेष॥
मैं ध्यावतु हो नित शीश नाय। हमरी भवबाधा हरि जिनाय १०
सेवक अपनो निज जान जान। करुणा करि भौभय भान-भान।
यह विघन मूलतरु खण्डखण्ड। चितचिंतित आनंद मंड मंड।११।
घत्ता—श्रीशांति महंता, शिवतियकंता, सुगुन अनंता, भगवंता॥
भवभ्रमन हनंता सौख्यअनंता, दातार तारनवंता।१२।
ॐ ह्रीं श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय पूर्णार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

छन्द रूपक सवैया (मात्र ३१)
शांतिनाथजिनके पदपंकज जो भवि पूजै मनवचकाय।
जनम जनम के पातक ताके, ततछिन तजिकै जाय पलाय॥
मनवांछित सुख पावै सौ नर, बांचै भगतिभाव अति लाय।
तातै 'वृन्दावन नित बंदै, जातै शिवपुरराज कराय॥
इत्याशीर्वाद। परिपुष्पांजिलिं क्षिपेत्।

(१३) सम्पूर्ण अर्घ

मैं देव श्री अरहन्त पूजूं, सिद्ध पूजूं चाव सो,
आचार्य श्री उवज्झाय पूजूं, साधु पूजूं भाव सो।
अरहन्त-भासित वन पूजूं, द्वादशांग रचे गनी,
पूजूं दिगम्बर गुरुचरन, शिव हेतु सब आशा हनी।
सर्वज्ञ-भाषित धर्म दश विधि, दया मय पूजूं सदा,
जजी भावना षोडश रत्नत्रय जा बिना शिव नहीं कदा।
त्रैलोक्य के कृत्रिम अकृत्रिम, चैत्य चैत्यालय जजूं,
पंच मेरू नन्दीश्वर जिनालय, खचर सुर पूजित भजूं।
कैलाश श्री सम्मेद श्री गिरनार गिरि पूजूं सदा,
चम्पापुरी पावापुरी पुनि और तीरथ सर्वदा।

चौबीस श्री जिनराज पूजूं बीस क्षेत्र विदेह के,
नामावली इक सहस वसु जय होय पति शिव गेह के।
जल गंधाक्षत पुष्प चरू, दीप धूप फल लाय।
सर्व पूज्य पद पूजहू बहु विधि भक्ति बढाय॥

ॐ ह्रीं श्रीं अर्हन्त-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय-सर्व साधु, देव-शास्त्र-गुरु, उत्तम क्षमादि दशधर्म, दर्शनविशुद्धि आदि षोडश भावना, त्रैलोक्य सबधि कृत्रिम अकृत्रिम समस्त चैत्य-चैत्यालय, पचमेरु सबधि चैत्य-चैत्यालय, नदीश्वर सबधि जिन-जिनालय, निर्वाण क्षेत्र श्री कैलाश-सम्मेदगिरि-गिरनारगिरि-चपापुरी-पावापुरी आदि तीर्थक्षेत्र, श्रीऋषभादि-चतुर्विशति जिनेन्द्रदेव, श्रीसीमधरादि विंशति जिनेन्द्रदेव, आदि समस्त-पूज्यपदेभ्यो अनर्घ पद प्राप्तये महार्घ निर्वपामीति स्वाहा।

(१४) शान्ति पाठ

शास्त्रोक्त विधि पूजा महोत्सव सुरपति चक्री करें,
हम सारीखे लघु पुरुष कैसे यथाविधि पूजा करें।
धन क्रिया ज्ञान रहित न जाने रीत पूजन नाथ जी,
हम भक्ति वश तुम चरण आगे जोड लीने हाथ जी।
दुख हरन मगल करण आशा भरण जिन पूजा सही,
यो चित्त मे श्रद्धान मेरे शक्ति है स्वयमेव ही।
तुम सारीखे दातार पाए काज लघु जाचूं कहा,
मुझ आप सम कर लेऊ स्वामी यही इक बाँछा महा।
ससार भीषण विपिन मे वसुकर्म मिल आतापिओ,
तिस दाहतै आकुलित चिरतै शान्तिथल कहू ना लियो।
तुम मिले शान्तिस्वरूप शान्तिकरन समरथ जगपति,
वसुकर्म मेरे शान्ति करदो शान्तिमय पचम गति।
जबलौं नही शिवलहू तबलो देह ये धन पावना,
सत्सग शुद्धाचरण श्रुत अभ्यास आतम भावना।

तुम विन अनन्तानन्त काल गयो रूलत जग जाल मे,
अव शरण आयो नाथ दुहु कर जोड नावत भाल मैं ।।
दोहा—कर प्रमाण के मानते, गगननापै किहि भत,
त्यो तुम गुण वर्णन करत, कवि पावे नहि अत ।
(पुष्पांजलि क्षिपेत्)

(१५) विसर्जन पाठ

सम्पूर्ण विधिकर वीनऊँ इस परम पूजन ठाठ मे,
अज्ञानवश शास्त्रोक्त विधि तै चूक कोनो पाठ मे ।
सो होऊ पूर्ण समस्त विधिवत् तुम चरण की शरणतै,
वन्दो तुम्हे कर जोरि के उद्धार जामन मरणतै ।।
आह्वानन स्थापनन् तथा सन्निधिकरण विधान जी,
पूजन विर्सजन यथाविधि जानूं नही गुणखान जी ।।
जो दोप लोगो सो नसौं सब तुम चरण की शरणतै,
वन्दो तुम्हे कर जोरि कर उद्धार जामन मरणतै ।
तुम रहित आवागमन आह्वानन कियो निज भाव मे,
विधि यथाक्रम निजशक्ति सम पूजन कियो अति चाव मे ।
करहू क्षमा मोय भाव ही मे तुम चरण को शरणतै,
वन्दो तुम्हे कर जोरिकै उद्धार जामन मरणतै ।
दोहा—तीनभुवन तिहुकाल मे तुमसा देव न और,
सुख कारन सकटहरन, नमहु युगल कर जोर ।

(१६) आत्म सम्बोधन

समझ उर धर कहत गुरुवर, आत्मचिन्तन की घडी है ।
भव उदधि तन अथिर नौका, बीच मँझधारा पडी है ।।टेक।।
आतम स है पृथक् तन-धन, सोचरे मन कर रहा क्या ?
लखि अवस्था कर्मजड की, वोल उनसे डर रहा क्या ?
ज्ञान-दर्शन चेतना सम, और जग मे कौन है रे ?

दे सके दुख जो तुझे वह, शक्ति ऐसी कौन है रे ?
कर्म सुख-दुख दे रहे हैं, मान्यता ऐसी करी है।
चेत-चेतन प्राप्त अवसर, आत्मचिन्तन की घडी है ॥१॥
जिस समय हो आत्मदृष्टि, कर्म थर थर कांपते हैं।
भाव की एकाग्रता लखि, छोड खुद ही भागते हैं ॥
ले समझ से काम या फिर चतुर्गति ही मे विचर ले।
मोक्ष अरु ससार क्या है, फैसला खुद ही समझ ले ॥
दूर कर दुविधा हृदय से, फिर कहाँ धोखा घडी है।
समझ उर धर कहत गुरुवर, आत्म चिन्तन की घडी है ॥२॥
कुन्दकुन्दाचार्य गुरुवर, यह सदा ही कहि रहे हैं।
समझना खुद ही पडेगा, भाव तेरे वहि रहे हैं ॥
शुभ क्रिया को धर्म माना, भव इसी से धर रहा है।
है न पर से भाव तेरा, भाव खुद ही कर रहा है ॥
है निमित्त पर दृष्टि तेरी, बान ही ऐसी पडी है।
चेत -चेतन प्राप्त अवसर, आत्म चितन की घडी है ॥३॥
भाव की एकाग्रता रुचि, लीनता पुरुषार्थ करले।
मुक्ति बन्धन रूप क्या है, बस इसी का अर्थ कर ले।
भिन्न हू पर से सदा मैं, इस मान्यता मे लीन हो जा।
द्रव्य-गुण-पर्याय ध्रुवता, आत्म सुख चिर नीद सो जा ॥
आत्म गुण धर लाल अनुपम, शुद्ध रत्नत्रय जडी है।
समझ उर धर कहत गुरुवर, आत्म चितन की घडी है ॥४॥

(१७) जिनवाणी माता की स्तुति

मिथ्यातम नाशवे को, ज्ञान के प्रकाशवे को,
आपा-पर भासवे को, भानुसी बखानी है।
छहो द्रव्य जानवे को, बध विधि भानवे को,
स्व-पर पिछानवे को, परम प्रमाणी है।

अनुभव वतायवे को, जीव के जतायवे को,
काहू न सतायवे को, भव्य उर आनी है।
जहाँ तहाँ तारवे को, पार के उतारवे को,
सुख विस्तारवे को, ये ही जिनवाणी है।
हे जिनवाणी भारती, तोहि जपो दिन रैन,
जो तेरा शरना गहे, सो पावै सुख चैन।
जा वानी के ज्ञानते, सूझै लोकालोक,
सो वानी मस्तक नवो, सदा देत हो धोक ॥

(१८) भव्य जीवों के लिए सच्चा सुख प्राप्त करने योग्य तत्वचर्चा

प्रश्न १—आत्मा क्या कर सकता है ?

उत्तर—आत्मा चैतन्य स्वरूप है। वह ज्ञाता-दृष्टा के अतिरिक्त अन्य कोई भी कार्य नही कर सकता।

प्रश्न २—आत्मा ज्ञाता-दृष्टा के सिवाय और कुछ नहीं कर सकता, तो फिर ससार और मोक्ष की व्यवस्था का क्या मतलव है ?

उत्तर—आत्मा ज्ञाता दृष्टा ही है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा के उपयोग को जव पर पदार्थ की ओर लक्ष्य रखकर पर भाव मे यह 'मैं' ऐसा दृढ कर लेता है तव यही ससार कहलाता है और जव स्व की ओर लक्ष्य करके उपयोग को स्व मे यह 'मैं' ऐसा दृढ कर लेता है तव यही मोक्ष कहलाता है। 'स्व'की तरफ लक्ष्य रखकर स्व मे दृढता और पर की तरफ लक्ष्य रखकर पर मैं दृढता। इसके सिवाय अनादिकाल से और कुछ कोई भी जीव कर ही नही सका है और ना अनन्तकाल तक और कुछ कर ही सकेगा।

प्रश्न ३—आत्मा ज्ञाता-दृष्टा के सिवाय और कुछ नहीं कर सकता तो फिर समस्त शास्त्रो से क्या लाभ है ?

उत्तर—बारह अग के सब शास्त्रो का उपदेश मात्र एक ही है कि चैतन्य का उपयोग जो पर की तरफ ढला हुआ है उसे स्व की तरफ मोडकर स्व मे दृढ करना। चारो अनुयोगो मे मात्र उपयोग को मोड करने की बात है। इसी बात को शास्त्रो मे अनेक युक्तियो से समझाया है।

प्रश्न ४—ससारी और मुक्त जीवो की क्रिया मे क्या भेद हैं?

उत्तर—चैतन्य का ज्ञान उपयोग यही आत्मा की क्रिया है। निगोद से लगाकर सिद्ध भगवान तक के सभी जीव मात्र उपयोग ही कर सकते हैं। ज्ञाता-दृष्टा के सिवाय अन्य कुछ भी नही कर सकते हैं। भेद मात्र इतना ही है कि मिथ्यादृष्टि जीव अपने उपयोग को पर की तरफ लगा कर पर भावो एकाग्र रहते हैं और ज्ञानी अपने उपयोग को अपने शुद्ध स्वभाव मे ढालकर स्वभाव मे एकाग्र रहते हैं। परन्तु कोई भी जीव ज्ञानोपयोग के सिवाय पर पदार्थों मे कोई भी परिवर्तन असर-मदद नही कर सकते है। अज्ञान दशा मे शुभ-अशुभ रूप अशुद्धोपयोग कर सकता है। याद रखना—शुभ-अशुभ दोनो मे पर का लक्ष्य होने से अशुद्धोपयोग कहलाता है और स्व को ओर का ज्ञानोपयोग शुद्धोपयोग कहलाता हैं।

प्रश्न ५—बंध-मुक्ति के सम्बन्ध मे क्या सिद्धान्त है?

उत्तर—पर लक्ष्य से बधन और स्वलक्ष्य से मुक्ति होती है। पर लक्ष्य होने पर शुभभाव हो वह भी अशुद्ध उपयोग ही है ससार का कारण है। जहाँ स्व लक्ष्य है वहाँ शुद्धोपयोग है मुक्ति का कारण है।

प्रश्न ६—विश्व किसे कहते हैं?

उत्तर—जीव अनन्त, पुद्गल अनन्तानन्त, धर्म-अधर्म आकाश एक-एक और लोक प्रमाण असख्यात काल द्रव्य हैं, इन सबके समूह को विश्व कहते है?

प्रश्न ७—विश्व की व्यवस्था किस प्रकार है?

उत्तर—प्रत्येक द्रव्य कायम रहता हुआ, अपनी-अपनी प्रयोजनभूत क्रिया करता हुआ, निरन्तर बदलते रहना। यह विश्व की

व्यवस्था है।

प्रश्न ८—प्रत्येक द्रव्य कायम रहता हुआ, अपनी-अपनी प्रयोजनभूत क्रिया करता हुआ, निरन्तर बदलता रहता है; इसे स्पष्ट समझाइये ?

उत्तर—जीव अनन्त, पुद्गल अनन्तानन्त, धर्म-अधर्म आकाश एक-एक और लोक प्रमाण असख्यात काल द्रव्य हैं। प्रत्येक द्रव्य मे अनन्त-अनन्त गुण हैं। एक-एक गुण मे एक समय मे एक पर्याय का उत्पाद, एक पर्याय का व्यय और गुण कायम रहता है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य के गुण मे हो चुका है, हो रहा है और होता रहेगा। इस व्यवस्था को रोकने के लिए या हेर-फेर करने को कोई देव-जिनेन्द्र समर्थ नही है, क्योकि यह जिनेन्द्र से कथित पारमेश्वरी व्यवस्था है।

प्रश्न ९—सुख क्या है ?

उत्तर—आकुलता (चिन्ता, क्लेश, झझट) का उत्पन्न ना होना अर्थात्वस्तुस्वरूप की सच्ची समझ सुख है।

प्रश्न १०—आकुलता कैसे मिटे तो सुखी हो ?

उत्तर—अपने रागादिक दूर हो या आप चाहे उसी प्रकार सर्व द्रव्य परिणमित हो तो आकुलता मिटे। परन्तु सर्व द्रव्य जैसे यह चाहे वैसे ही हो अन्यथा न हो, तब यह निराकुल रहे परन्तु यह तो हो ही नही सकता, क्योकि किसी द्रव्य का परिणमन किसी द्रव्य के आधीन नही है, इसलिए अपने रागादिक दूर होने पर निराकुलता हो, सो यह कार्य बन सकता है, क्योकि रागादिक भाव आत्मा के स्वभाव भाव तो हैं नही, उपाधिक भाव है। इसलिए यदि पात्र जीव अपने भूतार्थ स्वभाव का आश्रय ले तो आकुलता का अभाव होकर सुखी हो। [मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३०७]

प्रश्न ११—विश्व मे उत्तम कौन-कौन हैं ?

उत्तर—निमित्तरूप पचरमेष्टी और उपादानरूप त्रिकाली अपना भगवान आत्मा, यह दो विश्व मे उत्तम है। अशरण भावना मे कहा

है कि "शुद्धातम अरु पचगुरु, जग मे सरनो दोय।
मोह उदय जिव के वृथा, आनकल्पना होय।"

प्रश्न १२—निमित्तरूप पंचपरमेष्टी और उपादानरूप अपने भगवान को उत्तम मानने से क्या होता है ?

उत्तर—पचपरमेष्टी की आज्ञानुसार अपने उपादानरूप त्रिकाली आत्मा का आश्रय लेवे तो सम्यग्दर्शनादिक की प्राप्ति होकर क्रम से सिद्ध दशा की प्राप्ति होती है।

प्रश्न १३—मोक्षमार्ग किसे कहते हैं ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनो की एकता ही मोक्षमार्ग है और परवस्तुओं मे, शुभभावो मे मोक्षमार्ग नही है।

प्रश्न १४—मोक्षमार्ग कितने प्रकार का है ?

उत्तर—मोक्षमार्ग तो एक ही प्रकार का है दो प्रकार का नही है। परन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। जहाँ वीतरागरूप सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग बतलाया है वह तो निश्चय मोक्षमार्ग है। तथा भूमिकानुसार हेयबुद्धि से अस्थिरता सम्बन्धी राग जो मोक्षमार्ग तो नही है परन्तु सच्चे मोक्षमार्ग का निमित्त है व सहचारी है। उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाता है, क्योकि निश्चय-व्यवहार का चारो अनुयोगो मे ऐसा ही लक्षण है। सच्चा निरूपण निश्चय और उपचार निरूपण व्यवहार है। अत निरूपण की अपेक्षा से दो प्रकार का मोक्षमार्ग कहना चाहिए। एक निश्चय मोक्षमार्ग है दूसरा व्यवहार मोक्षमार्ग है, इस प्रकार दो प्रकार का मोक्षमार्ग मानना मिथ्यात्व है। [मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ - ५१]

प्रश्न १५—निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर—पर से भिन्न स्व का यथार्थ श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है। पर से भिन्न स्व का यथार्थ ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान है और पर से भिन्न स्व का यथार्थ आचरण निश्चय सम्यक्चारित्र है।

प्रश्न १६—स्व और पर क्या है ?

उत्तर—(१) अमूर्तिक प्रदेशो का पुंज, (२) प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणो का धारी, (३) अनादिनिधन, (४) वस्तु स्व है और (१) मूर्तिक पुद्गल द्रव्यो का पिण्ड, (२) प्रसिद्ध ज्ञानादिको से रहित, (३) जिनका नवीन सयोग हुआ ऐसे शरीरादिक, (४) पुद्गल पर है।

प्रश्न १७—सबसे बड़ा पाप क्या है ?

उत्तर—मिथ्यात्व है क्योकि मिथ्यात्व को सात व्यसनो से भी भयकर बडा पाप कहा है। भगवान अमृतचन्द्राचार्य ने गाथा १४ मे कहा है कि "आत्मा रागादि और शरीरादिक से असयुक्त होने पर भी सयुक्तजैसा प्रतिभास ही ससार का वीज है अर्थात् महान मिथ्यात्व है।"

प्रश्न १८—मिथ्यात्व कितने प्रकार का है ?

उत्तर—अगृहीत मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व के भेद से दो प्रकार का है। जो अनादिकाल से एक-एक समय करके बिना सिखाये ही चला आ रहा है वह अगृहीत मिथ्यात्व है और मुख्य रूप से मनुष्य जन्म पाने पर कुगुरु-कुदेव-कुधर्म के निमित्त से नया-नया ग्रहण करता है वह गृहीत मिथ्यात्व है।

प्रश्न १९—अग्रहीत मिथ्यादर्शन क्या है ?

उत्तर—"जीवादि प्रयोजनभूत तत्व सरधै तिनमाहि विपर्ययत्व" जीव, अजीव, आस्रव-बध सवर-निर्जरा और मोक्ष यह सब प्रयोजन-भूत तत्व हैं इनका उल्टा श्रद्धान करना अगृहीत मिथ्यादर्शन है।

प्रश्न २०—जीवादि सात तत्व प्रयोजनभूत तत्त्व किस प्रकार हैं ?

उत्तर—अपना त्रिकाली ज्ञायक जीवतत्व आश्रय करने योग्य प्रयोजनभूत तत्त्व है। अजीवतत्त्व जानने योग्य प्रयोजनभूत तत्त्व है। आस्रव-बध तत्त्व छोडने योग्य प्रयोजनभूत तत्त्व हैं। सवर-निर्जरा तत्त्व एकदेश प्रगट करने योग्य प्रयोजनभूत तत्त्व है और मोक्षतत्त्व पूर्ण प्रगट करने योग्य प्रयोजनभूत तत्व है।

प्रश्न २१—जीव स्वरूप क्या है और क्या नहीं है ?

उत्तर—"चेतन को है उपयोगरूप, विनमूरत चिन्मूरत अनूप। पुद्गल नभ धर्म-अधर्म काल, इनतै न्यारी है जीव चाल"।(१) मैं ज्ञान दर्शन उपयोगीमयी जीवतत्व हूँ; (२) मेरा कार्य ज्ञाता-दृष्टा है, (३) आँख-नाक-कान औदारिक आदि शरीरो रूप मेरी मूर्ति नही है, (४) चैतन्य अरूपी असख्यात प्रदेशी मेरा एक आकार है, (५) सर्वज्ञ स्वभावी ज्ञानपदार्थ होने से मेरी आत्मा अनुपम है। (६) मुझ निज आत्मा के अलावा अनन्तजीव, अन्नतानन्त पुद्गल, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक और लोक प्रमाण असख्यात काल द्रव्यो से मेरे जीवतत्व का स्वरूप पृथक् है क्योकि मेरा द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव पृथक् है और इन सबका द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव पृथक् है।

प्रश्न २२—अगृहीत मिथ्यादर्शन के कारण अज्ञानी जीव जीवतत्व के विषय मे क्या मानता है ?

उत्तर—"मैं सुखी दुखी मैं रक राव, मेरे धन ग्रह गोधन प्रभाव, मेरे सुत तिय मैं सवल दीन, वेरूप सुभग मूरख प्रवीण"॥ शरीर है सो मैं ही हूँ, शरीर का कार्य मैं कर सकता हू, शरीर का हलन-चलन मुझ से होता है; शरीर निरोग हो मुझे लाभ हो, बाह्य अनुकूल सयोगो से मैं सुखी और बाह्य प्रतिकूल सयोगो से मैं दुखी, मैं निर्धन, मै धनवान, मैं बलवान, मैं निर्बल, मैं मनुष्य, मैं कुरूप, मै सुन्दर, शरीर आश्रित क्रियाओ मे अपनापना मानना—यह अगृहीत मिथ्यादर्शन के कारण जीवतत्व का उलटा श्रद्धान है।

प्रश्न २३—अजीव तत्व क्या है ?

उत्तर—जिसमे मेरा ज्ञान-दशन नही है वह अजीव तत्व है।

प्रश्न २४—अगृहीत मिथ्यादर्शन के कारण अज्ञानी जीव अजीवतत्व के विषय मे क्या मानता है ?

उत्तर—"तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान"। शरीर उत्पन्न होने से मेरा जन्म हुआ, शरीर का नाश होने से मैं मर जाऊँगा, धन शरीर इत्यादि जड पदार्थो मे परिवर्तन होने से

अपने मे इष्ट-अनिष्टपना मानना, शरीर की उष्ण या ठडी अवस्था होने पर मुझे बुखार आया, शरीर मे भूख प्यास काली-गोरी आदि अवस्थायें होने पर अपनी आत्मा की अवस्था मानना यह अगृहीत मिथ्यादर्शन के कारण अजीवतत्व सम्वन्धी जीवत्व का उल्टा श्रद्धान है।

प्रश्न २५—भाव आश्रव क्या है ?

उत्तर—शुभाशुभ विकारी भावो का उत्पन्न होना यह भाव-आस्रव है।

प्रश्न २६—अगृहीत मिथ्यादर्शन के कारण अज्ञानी जीव आस्रव तत्व के विषय मे क्या मानता है ?

उत्तर—"रागादि प्रगट के दु:ख दैन, तिन ही सेवत गिनत चैन"। मिथ्यात्व, राग-द्वेष रूप शुभाशुभ भाव आस्रव हैं। ये भाव आत्मा को प्रगट रूप से दु ख के देने वाले है। परन्तु अगृहीत मिथ्यादर्शन के कारण इन शुभाशुभ भावो को हितरूप जानकर निरन्तर उनका सेवन करना—यह आस्रवतत्व सम्वन्धी जीव तत्व का उल्टा श्रद्धान है।

प्रश्न २७—भाव वन्ध क्या है ?

उत्तर—आत्मा का अज्ञान, राग-द्वेप, पुण्य-पाप रूप विभावो मे रुक जाना—यह भाववध है।

प्रश्न २८—अगृहीत मिथ्यादर्शन के कारण अज्ञानी जीव बंधतत्व के विषय मे क्या मानता है ?

उत्तर—"शुभ अशुभ बध के फल मझार, रति अरति करै निज पद विसार"। जैसे सोने की बेडी वैसे ही लोहे की बेडी दोनो बधन करता है। परन्तु अगृहीत मिथ्यादर्शन के कारण अपने आप का पता ना होने से पुण्य के फल मे राग और पाप के फल मे द्वेष करता है। तत्वदृटि से पुण्य-पाप दोनो अहित कर ही है। परन्तु पुण्य को अच्छा और पाप को बुरा मानना—यह बध तत्व सम्वन्धी जीवतत्व का उल्टा श्रद्धान है।

प्रश्न २९—नास्ति और अस्ति से भाव संवर क्या है ?

उत्तर—पुण्य-पाप रुप अशुद्ध भाव का उत्पन्न ना होना नास्ति से भाव सवर है और शुद्धि की उत्पति होना अस्ति से भाव सवर है।

प्रश्न ३०—अगृहीत मिथ्यादर्शन के कारण अज्ञानी जीव संवर तत्व के विषय मे क्या मानता है ?

उत्तर—"आतमहित हेतु विराग ज्ञान, तै लखै आपको कष्ट दान"। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जीव को हितकारी है ! परन्तु अगृहीत मिथ्यादर्शन के कारण उनको कष्टदायक मानना—सवरतत्व सम्बन्धी जीव तत्व का उल्टा श्रद्धान है।

प्रश्न ३१—नास्ति और अस्ति भाव निर्जरा क्या है ?

उत्तर—अशुद्धि की हानि नास्ति से भाव निर्जरा है और शुद्धि की वृद्धि अस्ति से भाव निर्जरा है।

प्रश्न ३२—अगृहीत मिथ्यादर्शन के कारण अज्ञानी जीव निर्जरा तत्व के विषय मे क्या मानता है ?

उत्तर—"रोके न चाह निज शक्ति खोय"। आत्मा मे एकाग्र होकर शुभाशुभ कर्मो की इच्छा उत्पन्न ना होने से निज आत्मा की शुद्धि का बढना वह तप है। उस तप से निर्जरा होती है, वह त सुखदायक है। परन्तु अगृहीत मिथ्यादर्शन के कारण उसे कष्टदायक मानना और आत्मा की ज्ञानादि अनन्त शक्तियो को भूलकर पाँच इन्द्रियो के विषय मे सुख मानकर प्रीति करना—यह निर्जरा तत्व सम्बन्धी जीव तत्व का उल्टा श्रद्धान है।

प्रश्न ३३—नास्ति से और अस्ति से भावमोक्ष क्या है ?

उत्तर—सम्पूर्ण अशुद्धि का सर्वथा अभाव होना नास्ति से भाव-मोक्ष है और सम्पूर्ण शुद्धि का प्रगट होना अस्ति से भावमोक्ष है।

प्रश्न ३४—अगृहीत मिथ्यादर्शन के कारण अज्ञानी जीव मोक्षतत्व के विषय मे क्या मानता है ?

उत्तर—"शिवरूप निराकुलता न जोय"। सम्पूर्ण शुद्धि प्रगट होने से सम्पूर्ण आकुलता का अभाव है, पूर्ण निराकुल स्वाधीन सुख है। परन्तु अगृहीतमिथ्यादर्शन के कारण शरीर के मौज-शौक में ही

सुख मानना, मोक्ष मे शरीर, इन्द्रिय, खाना-पीना, मित्रादि कुछ भी नही होते हैं इसलिए मोक्ष मे अतीन्द्रिय स्वाधीन सुख न मानना—यह मोक्षतत्व सम्बन्धी जीवतत्व का उल्टा श्रद्धान है।

प्रश्न ३५—जिनमत मे जो मोक्ष का उपाय कहा है इससे मोक्ष होता ही है ऐसा किस प्रकार है ?

उत्तर—मोक्ष के उपाय मे पाँच कारण एक ही साथ होते हैं जब पात्रजीव (१) अपने ज्ञायक स्वभाव के सन्मुख होकर (२) पुरुषार्थ करता है, (३) काललब्धि, (४) भवितव्य और (५) कर्म के उपशमादि धर्म करने वाले को एक ही साथ होते है। इसलिए जो पात्र जीव पुरुषार्थ से जिनेश्वरदेव के उपदेशानुसार मोक्ष का उपाय करता है, उसको सर्व कारण मिलते है और उसे नियम से मोक्ष की प्राप्ति होती ही है।

प्रश्न ३६—निमित्त और उपादान दोनो इकट्ठे होकर कार्य करते हैं ऐसा मानने वाले के ज्ञान मे क्या-क्या दोष आते हैं ?

उत्तर—(१) कार्य का सच्चा कारण उपादान कारण है उसे नही पहिचाना अन्यथा कारण मानने से कारण-विपरीतता हुई। (२) जब उपादान अपना कार्य करता है तब उचित निमित्त स्वयमेव होता ही है। निमित्त को उपचार मात्र कारण कहने मे आता है। ऐसा वस्तुस्वरूप ना जानने से स्वरूप-विपरीतता हुई। (३) प्रत्येक द्रव्य सदैव अपना ही कार्य करता है पर का कुछ भी नही कर सकता है ऐसी भिन्नता ना जानने से भेदाभेद-विपरीतता हुई।

प्रश्न ३७—जिनके जानने से मोक्षमार्ग मे प्रवृत्ति हो वह क्या क्या है ?

उत्तर—हेय-उपादेय तत्वो की परीक्षा करना, जीवादि छह द्रव्यो को,सात तत्वो को,छह सामान्य गुणो को चार अभावो को, छह कारको को देव-गुरु-धर्म को पहिचानना, त्यागने योग्य मिथ्यादर्शनादिक का और ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिक का स्वरूप पहिचानना, निमित्त-नैमित्तिक, निश्चय-व्यवहार, उपादान-७५।२

तथा समयसार मे सौवी गाथा के चार वोल जिस प्रकार हैं उसी प्रकार समझने से मोक्षमार्ग मे प्रवृत्ति होती है।

[मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २५९]

प्रश्न ३८—समय थोड़ा है हम पढे लिखे कम हैं, हमे तो ऐसा उपाय बताओ ताकि हमारा कल्याण तुरन्त हो जावे ?

उत्तर—सज्ञी पचेन्द्रिय को इतना ज्ञान का उघाड है कि वह अपना कल्याण तुरन्त कर लेवे। मात्र जो स्वय अनादि अनन्त हैं उसकी ओर दृष्टि करते ही चारो गतियो का अभाव हो जाता है। अरे भाई मात्र दृष्टि बदलनी है। दृष्टि बदलते ही तू स्वय भगवान पर्याय मे बन जावेगा किसी से पूछना नही पडेगा।

प्रश्न ३९—फिर भी हम किन शास्त्रो का अभ्यास करें ताकि हमारी दृष्टि बदलकर अपने को अनुभव करे ?

उत्तर—मोक्षमार्ग प्रकाशक, लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, छहढाला की दूसरी ढाल, योगसार के दोहो का निरन्तर स्मरण तथा मुख्य रूप से जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला के सात भागो का अभ्यास करके उसके अनुसार अपनी आत्मा का आश्रय ले, तो अपना अनुभव-ज्ञान तुरन्त होवे और क्रम से मोक्ष रूपी सुन्दरी का नाथ बने।

प्रश्न ४०—निरन्तर स्मरण रखने योग्य पाँच बोल क्या-क्या हैं ?

उत्तर—(१) अनादिकाल से आज तक किसी भी परद्रव्य ने मेरा भला-बुरा किया ही नही। (२) अनादिकाल से आज तक मैंने भी किसी भी परद्रव्य का भला बुरा किया ही नही, (३) अनादिकाल से आज तक नुक्सानी का ही धधा किया है, यदि नुक्सानी का धधा ना किया होता तो ससार परिभ्रमण मिट गया होता, सो हुआ नही, (४) वह नुक्सानी मात्र एक समय की पर्याय मे हैं द्रव्य-गुण मे नही है, (५) यदि पर्याय की नुक्सानी मिटानी हो और पर्याय मे शान्ति लानी हो तो एकमात्र अपने अनन्त गुणो के अभेद पिण्ड की ओर दृष्टिकर।

(१६) सर्वज्ञ देव कथित छहों द्रव्यों की स्वतन्त्रता दर्शक छह सामान्यगुण

कर्त्ता जगत का मानता, जो कर्म या भगवान को।
वह भूलता है लोक मे, अस्तित्व गुण के ज्ञान को॥
उत्पाद-व्यययुत वस्तु है, फिर भी सदा ध्रुवता धरे।
अस्तित्वगुण के योग से, कोई नही जग मे मरे॥१॥
वस्तुत्वगुण के योग से, हो द्रव्य मे स्व-स्व क्रिया।
स्वाधीन गुण-पर्याय का ही, पान द्रव्यो ने किया॥
सामान्य और विशेषता से, कर रहे निज काम को।
यो मानकर वस्तुत्वको, पाओ विमल शिवधाम को॥२॥
द्रव्यत्वगुण इस वस्तु को, जग मे पलटता है सदा।
लेकिन कभी भी द्रव्य तो, तजता न लक्षण सम्पदा॥
स्वद्रव्य मे मोक्षार्थि हो, स्वाधीन सुख लो सर्वदा।
हो नाश जिससे आ-‌ तक की, दुखदाई भव कथा॥३॥
सब द्रव्य-गुण प्रमेय से, बनते विषय हैं ज्ञान के।
रुकता न सम्यग्ज्ञान पर से, जानियो यो ध्यान से॥
आत्मा अरूपी ज्ञेय निज, यह ज्ञान उसको जानता।
है स्व-पर सत्ता विश्व मे, सुदृष्टि उनको जानता॥४॥
यह गुण अगुरुलघु भी सदा, रखता महत्ता है महा।
गुण-द्रव्य को पर रूप यह, होने न देता है अहा॥
निजगुण-पर्यय सर्व ही, रहते सतत निज भाव मे।
कर्ता न हर्ता अन्य कोई, यो लखो स्व-स्वभाव मे॥५॥
प्रदेशत्व गुण की शक्ति से, आकार द्रव्य धरा करे।
निज क्षेत्र मे व्यापक रहे, आकार भी पलटा करे॥

आकार हैं सबके अलग, हो लीन अपने ज्ञान मे।
जानो इन्हे सामान्यगुण, रक्खो सदा श्रद्धान मे ॥६॥

(२०) बारह भावना

(जयचन्द्रजी)

अनित्य—द्रव्यरूप करि सर्व थिर, परजय थिर है कौन।
द्रव्यदृष्टि आपा लखो, परजय नय करि गौन ॥१॥

अशरण—शुद्धातम अरु पचगुरु जग मे सरनो दोय।
मोह उदय जिय के वृथा, आन कल्पना होय ॥२॥

ससार—पर द्रव्यन तै प्रीति जो, है ससार अबोध।
ताको फल गति चार मे, भ्रमण कह्योश्रुतशोध ॥३॥

एकत्व—परमारथ तै आतमा, एक रूप ही जोय।
कर्म निमित्त विकलप घने, तिन नाशे शिव होय ॥४॥

अन्यत्व—अपने-अपने सत्व कूं सर्व वस्तु विलसाय।
ऐसें चितवैं जीव जब, परतैं ममत न थाय ॥५॥

अशुचि—निर्मल अपनी आतमा, देह अपावन गेह।
जानि भव्य निज भाव को, यासो तजो सनेह ॥६॥

आस्रव—आतम केवल ज्ञान मय, निश्चय दृष्टि निहार।
सब विभाव परिणाम मय आस्रव भाव विडार ॥७॥

संवर—निज स्वरूप में लीनता, निश्चय संवर जानि।
समिति गुप्ति सजम धरम धरै पाप की हानि ॥८॥

निर्जरा—संवर मय है आतमा, पूर्व कर्म झड़ जाय।
निज स्वरूप को पायकर, लोक शिखर जब थाय ॥९॥

लोक—लोक स्वरूप विचार कैं, आतम रूप निहार।
परमारथ व्यवहार गुणि, मिथ्याभाव निवारि ॥१०॥

बोधिदुर्लभ—बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहिं ॥
भव मे प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाँहि ॥११॥

धर्म—दर्श ज्ञानमय चेतना, आतम धर्म बखानि।
दया क्षमादिक रतनत्रय, यामे गर्भित जानि ॥१२॥

(२१) सामायिक पाठ अमितगति आचार्य

(अनुवादक—श्री युगलजी)

प्रम भाव हो सब जीवो से, गुणी जनो मे हर्ष प्रभो।
करुणा-श्रोत बहे दुखियो पर, दुर्जन मे मध्यस्थ विभो।१।
यह अनन्त बल-शील आतमा, हो शरीर से भिन्न प्रभो।
ज्यो होती तलवार म्यान से, वह अनन्त बल दो मुझको।२।
सुख-दुख वैरी वन्धु वर्ग मे, काँच कनक मे समता हो।
वन उपवन, प्रासादकुटी मे नही खेद, नहिं ममता हो।३।
जिस सुन्दर-तम पथ पर चलकर, जीत मोह मान मन्मथ।
वह सुन्दर पथ ही प्रभु ! मेरा बना रहे अनुशीलन पथ।४।
एकेन्द्रिय आदिक प्राणी को, यदि मैंने हिंसा की हो।
शुद्ध हृदय से कहता हू वह, निष्फल हो दुष्कृत्य प्रभो।५।
मोक्ष मार्ग प्रतिकूल प्रवर्त्तन, जो कुछ किया कषायो से।
विपथ-गमन सब कालुष मेरे, मिट जावें सद्भावो से।६।
चतुर वैद्य विष विक्षत करता, त्यो प्रभु ! मैं भी आदि उपात।
अपनी निन्दा आलोचन से, करता हू पापो को शान्त।७।
सत्य अहिंसादिक वृत मे भी, मैंने हृदय मलीन किया।
व्रत-विपरीत-प्रवर्त्तन न करके, शीलाचरण विलीन किया।८।
कभी वासना की सरिता का, गहन सलिल मुझ पर छाया।
पी पीकर विषयो की मदिरा, मुझमे पागलपन आया।९।

मैंने छली और मायावी हो असत्य-आचरण किया।
पर निन्दागाली, चुगली जो मुंह पर आया वमन किया।१०।
निरभिमान उज्ज्वल मानस हो, सदा सत्य का ध्यान रहे।
निर्मल-जल की सरिता सदृश, हिय मे निर्मल ज्ञान वहे।११।
मुनि, चक्री शक्री के हिय मे, जिस अनन्त का ध्यान रहे।
गाते वेद पुराण जिसे वह परम देव मम हृदय रहे।१२।
दर्शन-ज्ञान स्वभावी जिसने, सब विकार हो वमन किये।
परम ध्यान गोचर परमातम, परमदेव मम हृदय रहे।१३।
जो भव दुख का विध्वसक है, विश्व-विलोकी जिसका ज्ञान।
योगी-जन के ध्यान गम्य वह बसे हृदय मे देव महान।१४।
मुक्ति-मार्ग का दिग्दर्शक है, जन्म मरण से परम अतीत।
निष्कलक त्रैलोक्य-दर्शि वह, देव रहे मम हृदय समीप।१५।
निखिल-विश्व के वशीकरण वे, राग रहे ना द्वेष रहे।
शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञान स्वरूपी, परम देव मम हृदय रहे।१६।
देख रहा जो निखिल विश्व को, कर्म कलक विहीन विचित्र।
स्वच्छ विनिर्मल निर्विकार वह, देव करे मम हृदय पवित्र।१७।
कर्म-कलक अछूत न जिसको, कभी छू सके दिव्य प्रकाश।
मोह तिमिर को भेद चलाजो, परमशरण मुझको वह आप्त।१८।
जिसकी दिव्य ज्योति के आगे, फीका पडता सूर्य प्रकाश।
स्वय ज्ञान मयस्वपर प्रकाशी, परमशरण मुझको वह आप्त।१९।
जिसके ज्ञान रूप दर्पण मे, स्पष्ट झलकते सभी पदार्थ।
आदिअतसे रहित, शान्त, शिव, परमशरण मुझकोवह आप्त।२०।
जैसे अग्नि जलाती तरु को, तैसे नष्ट हुए स्वयमेव।
भय-विषाद चिन्ता सब जिसके, परमशरणमुझको वह देव।२१।
तृण, चौकी, शिल शैलशिखरनहिं, आत्म समाधी के आसन।
सस्तर, पूजा सघ सम्मिलन, नही समाधि के साधन।२२।

इष्ट-वियोग अनिष्ट-योग मे, विश्व मनाता है मातम ।
हेय सभी है विश्व वासना, उपादेय निर्मल आतम ।२३।

वाह्य जगत कुछ भी र्नाहि मेरा और न वाह्य जगत का मैं ।
यह निश्चय कर छोड वाह्यको, मुक्ति हेतु'नित स्वस्थर मैं ।२४।

अपनी निधि तो अपने मे है, वाह्य वस्तु मे व्यर्थ प्रयास ।
जग का सुख तो मृग तृष्णा है झूठे हैं उसके पुरुषार्थ ।२५।

अक्षय है शास्वत है आत्मा, निर्मल ज्ञान स्वभावी है ।
जो कुछ बाहर है सब पर है, कर्माधीन विनाशी है ।२६।

तन से जिसका ऐक्य नही हो सुत, तिय मित्रो से कैसे ? ।
चर्म दूर होने पर तन से, रोम-समूह रहे कैसे ? ।२७।

महा कष्ट पाता जो करता पर पदार्थ जड-देह सयोग ।
मोक्ष महल का पथ है सीधा, जड चेतन का पूर्ण वियोग ।२८।

जो ससार पतन के कारण, उन विकल्प जालो को छोड ।
निर्विकल्प, निर्द्वन्द आत्मा, फिर फिर लीन उसीमे हो ।२९।

स्वय किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते ।
करे आप फल देय अन्य तो, स्वय किये निष्फल होते ।३०।

अपने कर्म सिवाय जीव को, कोई न फल देता कुछ भी ।
'पर देता है' यह विचार तज, स्थिर हो छोड प्रमादी बुद्धि ।३१।

निर्मल, सत्य, शिव सुन्दर है 'अमित गति' वह देव महान ।
शास्वत निजमे अनुभव करते, पाते निर्मल पद निर्वाण ।३२।

(२२) अमूल्य तत्त्व विचार (मैं कौन हू)

बहु पुण्य-पुज-प्रसग से शुभ देह मानव का मिला,
तो भी अरे ! भवचक्र का फेरा न एक कभी टला ।
सुख-प्राप्ति हेतु प्रयत्न करते सुक्ख जाता दूर है ।
तू क्यो भयकर-भावमरण-प्रवाह मे चकचूर है ।।१।।

लक्ष्मी बढी अधिकार भी, पर बढ गया बोलिये ।
परिवार और कुटुम्ब है क्या वृद्धि ? कुछ नहि मानिये ।
ससार का बढना अरे ! नर देह की यह हार है ।
नही एकक्षण तुमको अरे ! इसका विवेक विचार है ॥२॥
निर्दोष सुख निर्दोष आनन्द लो जहाँ भी प्राप्त हो ।
यह दिव्य अन्त तत्त्व जिससे बन्धनो से मुक्त हो ।
परवस्तु मे मूर्छित न हो इसकी रहे मुझको दया ।
वह सुख सदा ही त्याज्य रे ! पश्चात् जिसके दुःख भरा ॥३॥
मैं कौन हू, आया कहाँ से, और मेरा रूप क्या ।
सम्बन्ध दुखमय कौन है ? स्वीकृत करूँ परिहार क्या ?
इसका विचार विवेक पूर्वक शान्त होकर कीजिये ।
तो सर्व आत्मिक-ज्ञान के सिद्धान्त का रस पीजिये ॥४॥
किसका वचन उस तत्त्व की उपलब्धि मे शिवभूत है ।
निर्दोष नर का वचन रे ! वह स्वानुभूति प्रसूत है ।
तारो अहो तारो निजात्मा शीघ्र अनुभव कीजिये ।
'सर्वात्ममे समदृष्टिद्यो' यह वच हृदय लिख लीजिये ॥५॥

योगसार

(२३) श्रीमद् योगीन्दुदेव विरचित्

निर्मल ध्यानरूढ हो, कर्म कलक नशाय ।
हुये सिद्ध परमात्मा, वन्दत हू जिनराय ॥१॥
चार घातिया क्षय करि, लहा अनन्त चतुष्ट ।
वन्दन कर जिनचरणको, कहू काव्य सुदृढ ॥२॥
इच्छक जो निज मुक्ति का, भवभय से डर चित्त ।
उन्ही भव्य सम्बोध हित, रचा काव्य इकचित्त ॥३॥

जीव, काल, ससार यह, कहे अनादि अनन्त।
मिथ्यामति मोह से दु खी, नहि सुख कभी लहन्त ॥४॥
चार गति दु ख से डरे, तो तज परभाव।
शुद्ध आतम चिन्तन करि, लो शिव सुख का भाव ॥५॥
त्रिविध आतमा जानके, तब वहिरातम रूप।
अन्तर आतम होय के, भज परमात्म स्वरूप ॥६॥
मिथ्यामति से मोहिजल, जाने नहि परमात्म।
भ्रमते जो ससार मे, कहा उन्हे वहिरात्म ॥७॥
परमात्मा को जानके, त्याग करे परभाव।
सत् पडित भव सिन्धु को, पार करे जिमि नाव ॥८।
निर्मल, निकल, जिनेन्द्र, शिव, सिद्ध, विष्णु, बुद्ध, शात।
सो परमातम जिन कहे, जानो हो निर्भ्रान्ति ॥९॥
देहादिक जो पर कहे, सो मानत निज रूप।
बहिरात्म वे जिन कहे, भ्रमते बहु भव कूप ॥१०॥
देहादिक जो पर कहे, सो निजरूप न मान।
ऐसा जान के जीव तू, निजरूप को निज जान ॥११॥
निज को निज का रूप जौ, जाने सो शिव होय।
पर रूप माने आतम का, तो भव भ्रमण न खोय ॥१२॥
बिन इच्छा शुचि तप करे, जाने निज रूप आप।
सत्वर पावे परमपद, लहे न पुनि भव ताप ॥१३॥
"बध-मोक्ष परिणाम से" कर निज वचन प्रमाण।
अटल नियम यह जानके, सत्य भाव पहिचान ॥१४॥
निज रूप के जो अज्ञजन, करे पुण्य बस पुण्य।
तदपि भ्रमत ससार मे, शिव सुख से हो शून्य ॥१५॥
निज दर्शन ही श्रेष्ठ है, अन्य न किंचित मान।
हे योगी। शिव हेतु अब, निश्चय तू यह जान ॥१६॥

गुणस्थानक अरु मार्गणा, कहे दृष्टि व्यवहार ॥
निश्चय आतम ज्ञान तो, परमेष्टी पदकार ॥१७॥

गृह कार्य करते हुए, हेयाहेय का ज्ञान ।
ध्यावे सदा जिनेश पद, शीघ्र लहे निर्वाण ॥१८॥

जिन सुमरो जिन चिन्तवो, जिन ध्यावो मन शुद्ध ।
जो ध्यावत क्षण एक मे, लहत परमपद शुद्ध ॥१९॥

जिनवर अरु शुद्धात्म मे, भेद न किंचित जान ।
मोक्षार्थ हे योगिजन ! निश्चय तू यह मान ॥२०॥

जिनवर सो आतम लखो, यह सिद्धान्तिक सार ।
जानि इह विधि योगिजन ! तज दो मायाचार ॥२१॥

जो परमात्मा सो हि मैं, जो मैं सो परमात्म ।
ऐसा जानके योगिजन ! तज विकल्प वहिरात्म ॥२२॥

शुद्ध प्रदेशी पूर्ण है, लोकाकाश प्रमाण ।
सो आतम जानो सदा, लहो शीघ्र निर्वाण ॥२३॥

निश्चय लोक प्रमाण है, तनु-प्रमाण व्यवहार ।
ऐसा आतम अनुभवो, शीघ्र लहो भवपार ॥२४॥

लक्ष चौरासी योनि मे, भटका काल अनन्त ।
पर सम्यक्त तू नहि लहा, सो जानो निर्भ्रान्त ॥२५॥

शुद्ध सचेतन, बुद्ध, जिन, केवल-ज्ञान स्वभाव ।
सो आतम जानो सदा, यदि चाहो शिव भाव ॥२६॥

जब तक शुद्ध स्वरूप का, अनुभव करे न जीव ।
तव तक प्राप्ति न मोक्ष की, रुचि, तहँ जावे जीव ॥२७॥

ध्यान योग्य त्रिलोक मे, जिन, सो आतम जान ।
निश्चय से यह जो कहा, तामे भ्रान्ति न मान ॥२८॥

जब तक एक न जानता, परम पुनीत सुभाव ।
व्रत-तप सब अज्ञानी के, शिव के हेतु न कहाय ॥२९॥

जो शुद्धातम अनुभवे, व्रत-सयम सयुक्त।
जिनवर भाषे जीव वह, शीघ्र होय शिवयुक्त ॥३०॥

जब तक एक न जानता, परम पुनीत सुभाव।
व्रत-तप-सयम-शील सब, निष्फल जानो दाव ॥३१॥

स्वर्ग प्राप्ति हो पुण्य से, पापे नरक निवास।
दोऊ तजि जाने आतम को, पावे सो शिव वास ॥३२॥

व्रत-तप-सयम-शील सव, ये केवल व्यवहार।
जीव एक शिव हेतु है, तीन लोक का सार ॥३३॥

आत्म भाव से आत्म को, जाने-तज परभाव।
जिनवर भाषे जीव वह, अविचल शिवपुर जाव ॥३४॥

जिन भाषित षट् द्रव्य जो, पदार्थ नव अरु तत्त्व।
कहा इसे व्यवहार से, जानो करि प्रयत्न ॥३५॥

शेष अचेतन सर्व हैं, जीव सचेतन सार।
मुनिवर जिनको जानके, शीघ्र हुवे भवपार ॥३६॥

शुद्धातम यदि अनुभवो, तजकर सब व्यवहार।
जिन परमातम यह कहे, शीघ्र होय भवपार ॥३७॥

जीव-अजीव के भेद का, ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान।
हे योगी! योगी कहे, मोक्ष हेतु यह जान ॥३८॥

योगी कहे रे जीव तू, जो चाहे शिव लाभ।
केवलज्ञान स्वरूपी यह, आत्म तत्त्व को जान ॥३९॥

को समता किसकी करे, सेवे पूजे कौन?
किसकी स्पर्शास्पर्शता ठगे कोई को कौन?

को मैत्री किसकी करे, किसके साथ ही क्लेश।
जहँ देखूं सब जीव तहँ, शुद्ध बुद्ध ज्ञानेश ॥४०॥

सद्‌गुरु वचन प्रसाद से, जाने न आतमदेव।
भ्रमे कुतीर्थ तब तलक, करे कपट के खेल ॥४१॥

तीर्थ-मन्दिरे देव नहि, यह श्रुत केवलि वान।
तन-मन्दिर मे देव जिन, निश्चिय करके जान ॥४२॥

तन-मन्दिर मे देव जिन, जन, मन्दिर देखन्त।
हँसी आय यह देख कर, प्रभु भिक्षार्थ भ्रमन्त ॥४३॥

नही देव मन्दिर बसत, देव न मूर्त्ति-चित्र।
तन मन्दिर मे देव जिन, समझ होय समचित ॥४४॥

तीर्थ मन्दिर मे सभी, लोग कहे है देव।
विरले ज्ञानी जानते, तन मन्दिर मे देव ॥४५॥

जरा मरण भय हरण हित, करो धर्म गुणवान।
अजरामर पद प्राप्ति हित, कर धर्मौषधि पान ॥४६॥

शास्त्र पढे, मठ मे रहे, शिर के लुंचे केश।
धरे वेश मुनिजनन का, धर्म न पाये लेश ॥४७॥

राग-द्वेष दोऊ त्याग के, निज मे करे निवास।
जिनवर भाषित धर्म यह पचम गति मे वास ॥४८॥

मन न घटे आयु घटे, घटे न इच्छा-भार।
नहि आतम हित कामना, यो भ्रमता ससार ॥४९॥

ज्यो रमता मन विषय मे, त्यो जो आतम लीन।
मिले शीघ्र निर्वाण-पद, धरे न देह नवीन ॥५०॥

नर्कवास सम जर्जरित, जानो मलिन शरीर।
करि शुद्धात्म भावना, शीघ्र लहो भवतीर ॥५१॥

जग के धधे मे फँसे करे न आतम ज्ञान।
जिसके कारण जीव वे, पात नही निर्वाण ॥५२॥

शास्त्र पाठि भी मूढ सम, जो निज तत्त्व अजान।
इस कारण इस जीव को, मिलें नही निर्वाण ॥५३॥

मन इन्द्रिय से दूर हट, क्यो पूछत बहु बात ?।
राग प्रसार निवार कर, सहज स्वरूप उत्पाद ॥५४॥

जीव-पुद्‌गल दोऊ भिन्न है, भिन्न सकल व्यवहार।
तज पुद्‌गल, ग्रह जीव तो, शीघ्र लहे भवपार ॥५५॥
स्पष्ट न माने जीव को, अरु नहि जानत जीव।
छूटे नही ससार से, भाषे जिन जी अतीव ॥५६॥
रत्न-हेम-रवि-दूष-दधि, घी-पत्थर अरु दीप।
स्फटिक-रजत और अग्नि नव, त्यो जानो यह जीव ॥५७॥
देहादिक को पर गिने, ज्यो शून्य आकाश।
लहे शीघ्र परब्रह्म को केवल करे प्रकाश ॥५८॥
जैसे शुद्ध आकाश है, वैसे ही शुद्ध जीव।
जड रूप जानो व्योम को, चेतन लक्षण जीव ॥५९॥
ध्यान धरे अभ्यन्तरे, देखत जो अशरीर।
मिटे जन्म लज्जा जनक, पिये न जननी क्षीर ॥६०॥
तन विरहित चैतन्य तन, पुद्‌गल तन जड जान।
मिथ्या-मोह विनाश के, तन भी निज मत मान ॥६१॥
निजको निज से जानकर, क्या फल प्राप्ति न पाय ?
प्रकटत केवल ज्ञान औ, शाश्वत सौख्य लहाय ॥६२॥
यदि परभाव तजि मुनि, जाने आपसे आप।
केकल ज्ञान स्वरूप लहि, नाश करे भवताप ॥६३॥
धन्य अहो ! भगवन्त बुध, जो त्यागे परभाव।
लोकालोक प्रकाश कर, जाने विमल स्वभाव ॥६४॥
मुनिजन या कोई गृही, जो रहे आतम लीन।
शीघ्र सिद्धि सुख को लहे, कहते यह प्रभु जिन ॥६५॥
बिरला जाने तत्त्व को, श्रवण करे अरु कोई।
बिरला ध्यावे तत्त्व को, बिरला धारे कोई ॥६६॥
गृह-परिवार मम हैं नही, हैं सुख दुख की खान।
यो ज्ञानी चिन्तन करि, शीघ्र करें भव हानि ॥६७॥

इन्द्र फणीन्द्र-नरेन्द्र भी नही शरण दातार।
मुनिवर 'अशरण' जानके, निज रूप वेदत सार ॥६८॥
जन्म मरण एकहि करें, सुख दुख वेदत एक।
नर्क गमन भी एक ही, मोक्ष जाय जीव एक ॥६९॥
यदि जीव तू है एकला. तो तज सब परभाव।
ध्यावो आत्मा ज्ञानमय, शीघ्र मोक्ष सुख पाव ॥७०॥
पाप तत्त्व को पाप तो, जाने जग सब कोई।
पुण्य तत्त्व भी पाप है, कहे अनुभवी कोई ॥७१॥
लोह वेडी वन्धन करे, यही स्वर्ण का धर्म।
जानि शुभाशुभ दूर कर, यह ज्ञानी का मर्म ॥७२॥
यदि तुझ मन निर्ग्रन्थ है, तो तू है निर्ग्रन्थ।
जब पावे निर्ग्रन्थता तव पावे शिव पन्थ ॥७३॥
ज्यो बीज मे है वड प्रकट, वड मे बीज लखात।
त्यो ही देह मे देव वह, जो त्रिलोक का नाथ ॥७४॥
जो जिन है सो मैं हि हू, कर अनुभव निर्भ्रान्ति।
हे योगी! शिव हेतु तज, मन्त्र-तन्त्र विभ्रान्ति ॥७५॥
द्वि-त्रि-चार औ पाच-छ, सात पाच और चार।
नव गुणयुत परमात्मा, कर तू यह निरधार ॥७६॥
दो तजकर दो गुण गहे, रहे आत्म-रस लीन।
शीघ्र लहे निर्वाण-पद, यह कहते प्रभु-जिन ॥७७॥
त्रय तजकर त्रयगुण गहे, निज मे करे निवास।
शाश्वत सुख के पात्र वे, जिनवर करे प्रकाश ॥७८॥
कषाय सज्ञा चार तज, जो गहते गुण चार।
हे जीव! निजरूप ज्ञान तू, होय पुनीत अपार ॥७९॥
दस विरहित, दस के सहित- दस गुण से सयुक्त।
निश्चय से जीव जान यह, कहते श्रीजिन मुक्त ॥८०॥

आत्मा दर्शन-ज्ञान है, आत्मा चरित्र जान।
आत्मा सयम-शील-तप, आत्मा प्रत्याख्यान ॥८१॥

जो जाने निज आत्म को, पर त्यागे निर्भ्रान्त।
यही सत्य सन्यास है, भाषे श्री जिननाथ ॥८२॥

रत्न त्रय युत जीव ही उत्तम तीर्थ पवित्र।
हे योगी! शिव हेतु हित, तन्त्र-मन्त्र नहिं मित्र ॥८३॥

दर्शन सो निज देखना, ज्ञान सो विमल महान।
पुनि पुनि आतम भावना, सो चारित्र प्रमाण ॥८४॥

जहँ चेतन तहँ सकल गुण, यह सर्वज्ञ वदन्त।
इस कारण सब योगिजन, शुद्ध आतम जानन्त ॥८५॥

एकाकी, इन्द्रिय रहित, करि योग त्रय शुद्ध।
निज आत्मा को जानकर शीघ्र लहो शिवसुख ॥८६॥

बन्ध-मोक्ष के पक्ष से निश्चय तू बन्ध जाय।
रमे सहज निजरूप मे, तो शिवसुख को पाय ॥८७॥

सम्यग्दृष्टि जीव का, दुर्गति गमन न होय।
यद्यपि जाय तो दोष नहि, पूर्व कर्म क्षय होय ॥८८॥

रमे जो आत्म स्वरूप मे, तज कर सब व्यवहार।
सम्यग्दृष्टि जीव वह, शीघ्र होय भव पार ॥८९॥

जो सम्यक्त प्रधान बुध, वही त्रिलोकप्रधान।
पावे केवलज्ञान झट, शाश्वत सौख्य निधान ॥९०॥

अजरामर वहु गुणनिधि, निजमे स्थित होय।
कर्म बन्ध नव नहिं करे, पूर्व बद्ध क्षय होय ॥९१॥

पकज ज्यह जलमध्य मे, जल से लिप्त न होय।
रहत लीन निजरूप मे, कर्म लिप्त नहि सोय ॥९२॥

शम सुख मे लवलीन जो, करते निज अभ्यास।
करके निश्चय कर्म क्षय, लहे शीघ्र शिववास ।।६३।।

पुरुपाकार पवित्र अति, देखो आतम राम।
निर्मल तेजोमय अरु, अनन्त गुणो का धाम ।।६४।।

जाने जो शुद्धात्म को, अशुचि देहसे भिन्न।
ज्ञाता सो सब शास्त्र का, शाश्वत सुख मे लीन ।।६५।।

निज-पर रूप के अज्ञ जन, जो न तजे पर भाव।
ज्ञाता भी सब शास्त्र का, होय न शिवपुर राव ।।६६।।

तजि कल्पना जाल सब, परम समाधि लीन।
वेदे जिस आनन्द को, शिव सुख कहते जिन ।।६७।।

जो पिण्डस्थ, पदस्थ अरु रूपस्थ रूपातीत।
जानो ध्यान जिनोक्त ये, होवो शीघ्र पवित्र ।।६८।।

सर्व जीव हैं ज्ञानमय ऐसा जो समभाव।
सो सामायिक जानिये, भाषे जिनवर राव ।।६९।।

राग द्वेष दोऊ त्याग के, धारे समता भाव।
सो सामायिक जानिये भाषे जिनवर राव ।।१००।।

हिंसादिक परिहार से, आत्म स्थिति को पाय।
यह दूजा चारित्र लख पचम गति ले जाय ।।१०१।।

मिथ्यात्वादिक परिहरण, सम्यकदर्शन शुद्धि।
सो परिहार विशुद्धि है, करे शीघ्र शिव सिद्धि ।।१०२।।

सूक्ष्म लोभ के नाश से, सूक्ष्म जो परिणाम।
जानो सूक्ष्म चारित्र वह जो शाश्वत सुख धाम ।।१०३।।

आत्मा ही अरहन्त है, निश्चय से सिद्ध जान।
आचार्य उपाध्याय औ निश्चय साधु समान ।।१०४।।

वह शिव शकर विष्णु औ रुद्र वही है बुद्ध।
ब्रह्मा ईश्वर जिन यही सिद्ध अनन्त औ शुद्ध ।।१०५।।

इन लक्षण से युक्त जो, परम विदेही देव।
देहवासी इस जीव मे, अरु उसमे नहिं भेद ॥१०६॥

सिद्ध हुवे अरु होयगे हैं अब भी भगवन्त।
आतम दर्शन से हि यह, जानो होय निःशक ॥१०७॥

भव भीति जिनके हृदय, "योगीन्दु" मुनिराज।
एक चित्त हो पद रचें, निज सम्बोधन काज ॥१०८॥

(२४) समाधि-तन्त्र

नमूं सिद्ध परमात्म को अक्षय बोध स्वरूप।
जिनने आत्मा आत्म मय, परजाना पररूप ॥ १॥

अक्षर इच्छा बिन बचन, सुगत सुखद जग व्याप्त।
तारक, नाशक कर्ममल, जयतु नमू वह आप्त ॥२॥

चहे अतीन्द्रिय सुख उन्हे, आत्मा शुद्ध स्वरूप।
श्रुत, अनुभव, अनुमान से, कहू शक्ति अनुरूप ॥३॥

त्रिविध रूप सब आतमा, अन्तरात्म हो वेद।
पद परमातम प्राप्त कर, बहिरातम पद छेद ॥४॥

बहिरातम भ्रम वश गिने, आत्मा तन इक रूप।
अतरात्म मल शोधता, परमात्मा मल मुक्त ॥५॥

शुद्ध, स्पर्श-मल बिन प्रभू अव्यय अज परमात्म।
ईश्वर, निज, उत्कृष्ट वह, परमेष्ठी परमात्म ॥६॥

आत्म ज्ञान से हो विमुख, इन्द्रिय से वहिरात्म।
आत्मा को तनमय समझ, तन ही गिने निजात्म ॥७॥

तिर्यक मे तिर्यच गिन, नर तन मे नर मान।
देव देह को देव लख, करे मूढ पहिचान ॥८॥

नारक तन मे नारकी, पर नहिं यह चैतन्य।
है अनन्त धी शक्ति युत, अचल स्वानुभव गम्य ॥९॥
चेतन सहित अचेत के, लख निजतन समकाम।
परका आत्मा मानकर, मूढ करे पहचान ॥१०॥
कहै देह को आत्मा, नही स्व-पर पहचान।
विभ्रम वश तन मे करे, सुत तियादि का ज्ञान ॥११॥
इस भ्रम मे अज्ञानमय, जमते दृढ सस्कार।
यो मोही भवभव करे, तन मे निज निर्धार ॥१२॥
इससे तन्मय आत्म ही, तन से करे सम्बन्ध।
आत्म बुद्धि नर स्वात्म का, तन से तजे सम्बन्ध ॥१३॥
मम सुत तिय यह उपज जब, जब तन मे निज बुद्धि।
आत्म-सम्पदा मानता, हृता जगत हा! व्यर्थ ॥१४॥
जग मे दुख का मूल है, तन मे निज का भान।
यह तज विषय विरक्त हो, लो निजात्म मे स्थान ॥१५॥
इन्द्रिय विषय विमुग्ध हो, उनको हितकर जान।
मैं आत्मा हू नहिं लखा, भूल गया निजभान ॥१६॥
वाहिर बचन विलास तज, तज अन्तर मन भोग।
है परमात्म प्रकाश का, थोडे मे यह योग ॥१७॥
रूप मुझे जो दीखता, वह तो जड अनजान।
जो जाने गोचर नही, बोलूं किससे वान ॥१८॥
मैं पर से प्रतिबुद्ध, या पर मुझ से प्रतिबुद्ध।
यह मम चेष्टा मत्त-सम, मैं विकल्प बिन शुद्ध ॥१९॥
कहूं सुनूं मैं अन्य से, है उन्मत वत् कार्य।
बचन विकल्प विमुक्त मैं, हूँ नहिं इन्द्रिय-ग्राह्य ॥२०॥
करे स्तभ मे पुरुष की, भ्रान्ति यथा अनजान।
त्यो भ्रम वस बन आदि मे, कर लेता निजभान ॥२१॥

भ्रम तज नर उस स्तम्भ का, नहि होता हैरान।
त्यो तनादि मे भ्रम हटे, नहिं पर मे निजभान ॥२२॥
आत्म को अपनी गिनूं, नहि नारी, नर षढ।
नही एक या दो बहुत, मैं हूँ शुद्ध अखड ॥२३॥
बोधि बिना निद्रित रहा, जगा लखा चैतन्य।
इन्द्रिय बिन अवयक्त हूँ, हूँ मैं अपने गम्य ॥२४॥
जब अनुभव अपना करूँ, हो अभाव रागादि।
मैं ज्ञाता मेरे नही, कोई अरि-मित्रादि ।२५॥
जो मुझको जाने नही, नही मेरा अरि मित्र।
जो जाने मम आत्म को नही शत्रु नहिं मित्र ॥२६॥
यो बहिरातम दृष्टि तज, हो अन्तर-मुख आत्म।
सर्व विकल्प विमुक्त हो, ध्यावे निज परमात्म ॥२७॥
'मैं ही वह परमातमा हू' हो जब दृढ सस्कार।
इन दृढ भावो से बने, निश्चय उस आकार ॥२८॥
मोही की आशा जहा, नहिं वैसा-भय स्थान।
जिसमे डर उस सम नही, निर्भय आत्म-स्थान ॥२९॥
इन्द्रिय विषय विरक्त हो, स्थिर हो निजमे आत्म।
उस क्षण जो अनुभव वही, है निश्चय परमात्म ॥३०॥
मैं ही वह परमात्म हूँ, हूँ निज अनुभव गम्य।
मैं उपास्य अपना स्वय, है निश्चय नहिं अन्य ॥३१॥
निजमे स्थित निज आत्म कर, कर मन विषायातीत।
पाता निजबल आत्म वह परमानन्द पुनीत ॥३२॥
तन से भिन्न-गिने नही, अव्यय रूप निजात्म।
करे उग्र तप मोक्ष नहिं, जब तक लखे न आत्म ॥३३॥
भेद ज्ञान बल है जहाँ, प्रकट आत्म आल्हाद।
हो तप दुष्कर घोर पर, होता नही विषाद ॥३४॥

चचल चित्त करे न जब, राग द्वेष हिलोर।
आत्म तत्व वह ही लखे, नही क्षुब्ध नर ओर ॥३५॥

निश्चल मन ही तत्व हैं, चचलता निज भ्राति।
स्थिर मे स्थिरता राखि तज, अस्थिर-मूल अशान्ति ॥३६॥

हो सस्कार अज्ञान मय, निश्चय हो मन भ्रान्त।
ज्ञान सस्कृत मन करे, स्वय तत्व विश्रान्ति ॥३७॥

चचल मन गिनता सदा, मान और अपमान।
निश्चल मन देता नही, तिरस्कार पर ध्यान ॥३८॥

मोह दृष्टि से जब जगे, मुनि को रागद्वेष।
स्वस्थ भावना आत्म की, करे मिटे उद्वेग ॥३९॥

जिस तन मे हो प्रीति, गिन उससे निज को ओर।
हो स्थिर उत्तम काय मे, मिटे मोह की दौर ॥४०॥

आत्म भ्रान्ति गत दुख हो, आत्म ज्ञान से शान्त।
इस बिन शान्ति न हो, भले करले तप दुर्दान्त ॥४१॥

तन तन्मय ही चाहता, सुन्दर तन सुर भोग।
ज्ञानी चाहे छूटना, तन विषयो से योग ॥४२॥

स्वसे च्युत पर मुग्ध नर, बँधता पर सग आप।
स्वस्थित पर से मुक्त हो, हरे कर्म सताप ॥४३॥

दिखते त्रय तन चिन्ह को, मूढ कहे निजरूप।
ज्ञानी माने आपको, बचन बिना चिद्रूप ॥४४॥

आत्मविज्ञ यद्यपि गिने, जाने तन जिय भिन्न।
पर-विभ्रम-सस्कार वश पडे भ्राँति मे खिन्न ॥४५॥

जो दिखते चेतन नही, चेतन गो-चर नाहिं।
रोष-तोष किससे करू हू तटस्थ निज माहि ॥४६॥

बाहर से मोही करे, अन्दर अन्तर आत्म।
दृढ अनुभव वाला नही, करे ग्रहण और त्याग ॥४७॥

मन आत्मा से जोड कर, बच तन से मन भिन्न।
बचन काय व्यापार मे, जोडे वहिं चैतन्य ॥४८॥

गिनें रम्य जग से रहे, वहिर्दृष्टि को आश।
स्वात्म दृष्टि कैसे करे, जग मे रति विश्वास ॥४९॥

नहिं चिर रखिये बुद्धि मे, कार्य ज्ञान विपरीत।
बचन काय आसक्ति बिन, करिये तो यह रीति ॥५०॥

इन्द्रिय गम्य जगत प्रगट, मम स्वरूप है नाहिं।
मैं हू आनन्द ज्योति जो भासे अदर माँहि ॥५१॥

बाहर सुख दुख आत्म मे, आरभी की दृष्टि।
बाहर सुख, दुख आत्म मे, देखे योग प्रविष्ट ॥५२॥

कथन, पृच्छना, कामना, निज स्वरूप की होय।
बहिर्दृष्टि क्षय, हो गमन, परमात्मा की ओर ॥५३॥

तन-वच-तन्मय भूल चित् जुडे बचन तन सग।
भ्रांति रहित तन बचन से चित को गिने असग ॥५४॥

इन्द्रिय विषयो मे न कुछ, आत्म लाभ की बात।
तो भी मूढ अज्ञान वश रमता इनके साथ ॥५५॥

मोही मुग्ध कुयोनि मे है अनादि से सुप्त।
जागे तो परको गिने आतमा होकर मुग्ध ॥५६॥

हो सुव्यवस्थित आत्म मे निज काया जड जान।
पर—काया मे भी करे जड की ही पहिचान ॥५७॥

कहू ना कहू मूढ जन, नहिं जाने ममरुप।
विज्ञापन का श्रम वृथा, खोना समय अनूप ॥५८॥

समझाना चाहू जिसे वह नहिं मेरा रूप।
नही अन्य से ग्राह्य मे, किम समझाऊँ रुप ॥५९॥

आवृत्त अन्तर-ज्योति हो, वाह्य विपय मे तुष्ट।
जागृत जग-कौतुक तजे, अन्दर से सतुष्ट ॥६०॥
काया को होती नही, सुख दुख की अनुभूति।
पोपण शोषन यत्न पर, करते व्यर्थ कुवुद्धि ॥६१॥
है मेरे तन वचन मन, यही वुद्धि सस र।
इसके भेद अभ्यास से, होते भव-जल पार ॥६२॥
मोटा कपडा पहन कर, माने नहि तन स्थूल।
त्यो वुध तन की पुष्टि से, गिने न आत्मा स्थूल ॥६३॥
वस्त्र जीर्ण से जीर्ण तन, माने नहि वुधिवान।
त्यो न जीर्ण तन से गिनें, जीर्ण आत्म मतिमान ॥६४॥
रक्त वस्त्र से नहि गिने, वुध जन तनको लाल।
त्यो वुध तन हो रक्तरग, गिनेन चेतन लाल ॥६५॥
वस्त्र फटे माने नही, ज्ञानी तन का नाश।
त्यो काया के नाश से, वुध नहि गिने विनाश ॥६६॥
स्पदित जव लगता जिसे, विन चेष्टा विनभोग।
ज्ञान-रहित निष्क्रिय सदा, उसे शान्ति का योग ॥६७॥
तन-कचुकि-आवृत्त है, चेतन ज्ञान-शरीर।
यह रहस्य जाने विना, चिर पाता भवपीर ॥६८॥
अणु के योग-वियोग मे, देह समानाकार।
दिखती अज्ञ गिने अत, आत्मा देहाकार ॥६९॥
श्वेत स्थूल कृश जानिये पुद्गल तन के रूप।
आत्मा निश्चय नित्य है, केवल ज्ञान स्वरूप ॥७०॥
निज निश्चल-धृति चित्त मे, उसे मुक्ति का योग।
जिसे न निश्चय धारण, शाश्वत मुक्ति-वियोग ॥७१॥
लोक सग से वच-प्रवृति, वच से चचल चित्त।
फिर विकल्प फिर क्षुब्ध मन, मुनि जन करे निवृत्ति ॥७२॥
जन अनात्म- दर्शी करे, ग्राम अरण्य निवास।
आत्म दृष्टि करते सदा, निज का निज मे वास ॥७३॥

आत्म बुद्धि ही देह मे, देहान्तर का मूल ।
आत्म बुद्धि जब आत्म मे, हो तन ही निर्मूल ॥७४॥

आत्मा ही भव हेतु है, आत्मा ही निर्वाण ।
यो निश्चय से आत्मका, आत्मा ही गुरु जान ॥७५॥

आत्म बुद्धि है देह मे, जिसकी प्रबल दुरत ।
वह तन परिजन मरण से, होता अति भयवत ॥७६॥

आत्म बुद्धि हो आत्म मे, निर्भय तजता देह ।
वस्त्र पलटने सम गिनें, तन गति नहि सदेह ॥७७॥

जागृत-अतर को नही, रुचे वाह्य व्यवहार ।
जो जागे व्यवहार मे, रुचे न आत्म विचार ॥७८॥

अन्तर देखे आतमा, बाहर देखे देह ।
यह अन्तर अभ्यास जब, दृढ हो बने विदेह ॥७९॥

आत्म दर्शि को जग प्रथम, लगता मत्त समान ।
फिर विशेष अभ्यास हो, गिने काष्ठ पाषाण ॥८०॥

सुने स्वरुप कथा बहुल, मुह से कहता आप ।
किन्तु भिन्न अनुभूति बिन, नही मुक्ति का लाभ ॥८१॥

आत्मा तनसे भिन्न गिन, करे सतत अभ्यास ।
जिससे तन का स्बप्न मे, भी नहि हो अभ्यास ॥८२॥

पाप बध अव्रत करे, व्रत मे पुण्य विधान ।
मोक्षार्थी दोनो तजे, व्रत अव्रत परिणाम ॥८३॥

हिसादिक को छोडकर, बने अहिसा निष्ठ ।
छोड व्रतो को भी तत, हो चैतन्य प्रविष्ठ ॥८४॥

अतर्जल्प क्रिया लिये, विविध कल्पना जाल ।
हो समूल निर्मूल तो, शिष्ट इष्ट तत्काल ॥८५॥

करे अव्रती व्रत ग्रहण, व्रती ज्ञान मे लीन ।
हो कैवल्य पुन स्वय, बने सिद्ध स्वाधीन ॥८६॥

वेष देह आश्रित दिखे, आत्मा का भव देह।
जिनको आग्रह वेष का, कभी न बने विदेह ॥८७॥

जाति देह आश्रित कहो, आत्मा का भव देह।
जिनको आग्रह जाति का, सदा मुक्ति सदेह ॥८८॥

वेष जाति से मुक्ति का, आगम आग्रह-वान।
नहिं पावे वह आत्म का, परम सुपद निर्वाण ॥८९॥

बुध तन-त्याग-विराग-हित, होते भोग निवृत्त।
मोही उन से द्वेष कर, रहते भोग प्रवृत्त ॥९०॥

दृष्टि पंगु की का करे, अन्धे मे आरोप।
तथा भेद विज्ञान विन, तन मे आत्मारोप ॥९१॥

पगु अध की दृष्टि का, ज्ञानी जाने भेद।
त्यों तन आत्मा मे करे, ज्ञानी अन्तर छेद ॥९२॥

निद्रा अरु उन्माद को, भ्रम माने वहिरात्म।
अन्तर दृष्टि को दिखे, सब जग मोहाक्रान्त ॥९३॥

हो वहिरातम शास्त्र पटु, हो जाग्रत नहिं मुक्त।
निद्रित हो उन्माद हो, ज्ञाता कर्म विमुक्त ॥९४॥

जिसमे बुद्धि जुडे वही, हो श्रद्धा निष्पन्न।
हो श्रद्धा जिसमे वही, होता तन्मय मन ॥९५॥

बुद्धि-नियोजन नहिं जहाँ, श्रद्धा का भी लोप।
श्रद्धा बिन कैसे बने, चित-स्थिरता का योग ॥९६॥

जैसे दीप-संयोग से, वाती बनती दीप।
त्यो परमात्म सयोग से, हो परमात्मा जीव ॥९७॥

चिदानन्द आराध्य हो, स्वय बने प्रभु आप।
बाँस रगड से बाँस मे, स्वयं प्रकट हो आग ॥९८॥

भेदाभेद स्वरूप का, सतत चले अभ्यास।
मिले अवाची पद स्वय, प्रत्यावर्तन नाश ९९॥

भूतज हो यदि चेतना, यत्न साध्य नहि मोक्ष ।
योगी को अतएव नहिं, कही कष्ट उपभोग ।१००।।
देह नाश के स्वप्न मे, यथा न निज का नाश ।
त्यो ही देह वियोग मे, सदा आत्म अविनाश ॥१०१॥
दु ख सन्निधि मे नहि टिके, अदुख भेद-विज्ञान ।
दृढतर भेद-विज्ञान का, अत नही अवसान ॥१०२॥
राग-द्वेष के यत्न से, हो वायू सचार ।
वायू है तनयत्र की, सचालन आधार ॥१०३॥
मूढ अक्षमय आत्म गिन, भोगे दुख सताप ।
सुधी तजें यह मान्यता, पावें शिवपद आप ॥१०४॥
करे समाधी तत्र का, आत्मनिष्ठ हो ध्यान ।
हो परात्म बुद्धि-प्रलय, जगे शान्ति, सुख ज्ञान ॥१०५॥

—o—

(२५) इष्टोपदेश

प्रगटा सहज स्वभाव निज, किये कर्म अरिनाश ।
ज्ञान रूप परमात्मा को, प्रणमूं मिले प्रकाश ॥१॥
उपादान के योग से, उपल कनक बन जाय ।
निज द्रव्यादि चतुष्क वश, शुद्ध आत्म पद पाय ॥२॥
आतप छाया स्थित पुरुप, के दुख-सुख की भाँति ।
व्रत से पाता स्वर्ग अरु, अव्रत से नर्कादि ॥३॥
जिन भावो से मुक्ति पद, कौन कठिन है स्वर्ग ।
वहन करे जो कोश दो, कठिन कोश क्या अर्ध ॥४॥
भोगें सुरगण स्वर्ग मे, अनुपमेय सुख भोग ।
निरातक चिर-काल तक, हो अनन्य उपभोग ॥५॥

सुख दुख केवल देह की, मात्र वासना जान ।
करे भोग भी विपत्ति मे व्याकुल रोग-समान ॥६॥
ज्ञान मोह-सवृत्त को, नहिं स्वरूप पहिचान ।
ज्यो कोदो से मत्तनर, खो देता सब भान ॥७॥
तन, घर, धन, तिय, मित्र, अरि, पुत्र आदि सब अन्य ।
पर स्वभाव से मूढ नर, माने उन्हे अनन्य ॥८॥
चहुदिशि से आकर विहग, रैन वसे तरु-डाल ।
उड प्रात निज कार्य वश, यही जगत-जन-चाल ॥६॥
त्रास दिया तब त्रस्त अब, क्यो हता पर क्रोध ?
अगुल गिरा स्वय गिरे, हो जब दण्ड प्रयोग ॥१०॥
रागद्वेष रस्सी बँधा, भव-सर घूमे आप ।
आत्म-भ्रान्ति वश आपही, सहे महा सताप ॥११॥
विपदा एक टले नही, वाट बहुत सी जोय ।
रहँट बँधा घट कुपमे, कभी न खाली होय ॥१२॥
अर्जन रक्षण है कठिन, फिर भी सत्वर नाश ।
रे ! धनादि का सुख यथा, घृत से ज्वर ना नाश ॥१३॥
कष्ट अन्य के देखता, पर अपनी सुध नाहिं ।
तरु पर बैठा नर कहे, हिरण जले वन माँहि ॥१४॥
आयु-क्षय,धन-वृद्धि का, कारण जानो काल ।
धन प्राणों से प्रिय लगे, अत· धनिक वेहाल ॥१५॥
निर्धन धन चाहे कहे, करूँ पुण्य दूँ दान ।
कीच लिपे पर मानता, मूढ किया मैं स्नान ॥१६॥
सतापज आरम्भ मे, प्राप्ति समय अतृप्ति ।
भोग-त्याग अन्तिम कठिन, सुधि छोड आसक्ति ॥१७।
हो जाते शुचि भी अशुचि, जिसको छकर अर्थ ।
काया है अति विघ्न मय, उस हित भोग अनर्थ ॥१८॥

करे आत्म उपकार जो, उनसे तन अपकार ।
जो उपकारक देह के, उनसे आत्म-विकार ॥१९॥
चिन्तामणि सा दिव्यमणि, और काच के टूक ।
सम्भव है सब ध्यान से, किसे मान दे बुद्ध ? ॥२०॥
नित्य अतुल सुख पुज जिय, जाने लोक-अलोक ।
तन प्रमाण अनुभव करे, निज वल से मुनिलोग ॥२१॥
कर मन की एकाग्रता, अक्ष-प्रसार निवार ।
रुके वृत्ति स्वच्छन्दता, निज मे आत्म निहार ॥२२॥
जड मे जडता ही मिले, ज्ञानी से निज ज्ञान ।
जो कुछ जिसके पास वह, करे उसी का दान ॥२३॥
निज मे निजको चिन्तवे, टले परीषह लक्ष ।
हो आश्रव अवरोध अरु, जागे निर्जर कक्ष ॥२४॥
'मैं क:का कर्ता' यही, करे द्वैत को सिद्ध ।
ध्यान ध्येय एकत्व मे, द्वैत सर्वदा अस्त ॥२५॥
ममता बधन-मूल है ममता-हीन विमुक्त ।
प्रतिपल जागृत ही रहे, निर्ममता का लक्ष ॥२६॥
निर्मम एक विशुद्ध मे, केवल ज्ञानी गम्य ।
गो, तन, वच, गो विषय अरु, है विभाव सब अन्य ॥२७॥
देहादिक सयोग से, होते दुख सदोह ।
मन, वच, तन, सबन्ध को, मन, वच, तन से छोड ॥२८॥
किसका भय जब अमर मे, व्याधि विना क्या पीड ।
बाल वृद्ध यौवन नही, यह पुद्गल की भीड ॥२९॥
पुन पुनः भोगे सभी पुद्गल मोहाधीन ।
क्या चाहूँ उच्छिष्ट को, मैं ज्ञानी अक्षीण ॥३०॥
जीव जीव का हित करे, कर्म कर्म की वृद्धि ।
निज बल सत्ता सब चहे, कौन चहे नहिं रिद्धि ॥३१॥

परहित अज्ञ रहे वृथा, पर उपवृति छोड़ ।
लोक तुल्य निज हित करो, निजका निजमे जोड़ ।।३२।।

गुरु उपदेशाभ्यास से, निज-पर भेद-विज्ञान ।
स्वसवेदन-बल करे अनुभव मुक्ति महान ।।३३।।

निजहित अभिलाषी स्वय, निज हित ज्ञायक आप ।
निजहित प्रेरक है स्वय, आत्मा का गुरु आत्म ।।३४।।

अज्ञ न पावे विज्ञता, नही विज्ञता अज्ञ ।
पर तो मात्र निमित्त है, ज्यो गति मे धर्मास्ति ।।३५।।

हो विक्षेप विहीन तज, आलस और प्रमाद ।
निर्जन मे स्वस्थित करे, योगी तत्वाभ्यास ।।३६।।

ज्यो ज्यो अनुभव मे निकट, आता उत्तम तत्व ।
नहि सुलभ्य भी विषय फिर, लगे योगि को भव्य ।।३७।।

जब सुलभ्य भी विषय नहि, लगे योगि को भव्य ।
आता अनुभव मे निकट, त्यो त्यो उत्तम तत्व ।।३८।।

इन्द्रजाल सम जग दिखे, करे आत्म-अभिलाष ।
अन्य विकल्पो मे करे, योगी पश्चाताप ।।३९।।

योगी निर्जन बन बसे, चहे सदा एकान्त ।
यदि प्रसग-वश कुछ कहे, विस्मृत हो उपरान्त ।।४०।।

भाषण अवलोकन गमन, करते दिखें मुनेश ।
किन्तु अकर्ता ही रहे, लक्ष्य स्वरूप विशेष ।।४१।।

कैसा? किसका ? क्यो ? कहाँ ? प्रभृति विकल्प विहीन ।
तन को भी नहि जानते, योगी अतर्लीन ।।४२।।

जहाँ वास करने लगे, रमे उसी मे चित्त ।
जहाँ चित्त रमने लगे, हटे नही फिर प्रीत ।।४३।।

आत्मा से अन्यत्र नहि, कायादिक मे वृत्ति।
रमे न पर-पर्याय मे, बधे न किन्तु विमुक्त ॥४४॥

पर तो पर है दुखद है, आतमा सुख मय आप।
योगी करते हैं अत. निज—उपलब्धि प्रयास ॥४५॥

करता पुद्गल द्रव्य का, अज्ञ समादर आप।
तजे न चतुर्गति मे अत., पुद्गल चेतन-साथ ॥४६॥

ग्रहण-त्याग व्यवहार विन, जो निजमे लवलीन।
होता योगी को कोई, परमानन्द नवीन ॥४७॥

साधु बहिर्दुख मे रहे, दुख सवेदन हीन।
करते परमानन्द से, कम घन प्रक्षीण ॥४८॥

करे अविद्या-नाश वह, ज्ञान ज्योति उत्कृष्ट।
तत्पृच्छा इच्छानुभव, है मुमुक्षु को इष्ट ॥४९॥

चेतन पुद्गल भिन्न है, यही तत्व सक्षेप।
अन्य कथन सब हैं इसी, के विस्तार विशेष ॥५०॥

विधिवत् नगर विपिन बसे, तज हठ मानामान।
भव्य इष्ट उपदेश पढ, ले अनुपम निर्वाण ॥५१॥

—०—

(२६) संसार दर्पण

(पं० मक्खन लाल)

एक समय एक पथिक विपिन मे राह भूलिकर फिरता था,
सघन वृक्ष कटकाकीर्ण निर्जन बन लखिकर डरता था।
सिंह भेडिये चीते गज रीछादि जानवर फिरते थे,
बन मानुष बाराह जगली शब्द भयानक करते थे ॥१॥

हो भयभीत पथिक बेचारा इधर उधर को जाता था,
बहुत समय हो गया किन्तु सीधा मारग नही पाता था।
इतने मे उन्मत्त एक गज पीछे दौडा आता है,
उसे देखिकरि पथिक बिचारा मन ही मन घबराता है ॥२॥

हे भगवन् ये काल सदृश गज भी क्या पीछे लागा है,
जानि बचाने हेतु पथिक भी खूब जोर से भागा है।
दोडि भागि करि अध कूप मे बड का वृक्ष निहारा है,
उसकी डाल पकडि पथी लटका विपदा का मारा है ॥३॥

डरे हुये ने ऊपर को जब दृष्टि उठा देखा बड़ को,
काटि रहे उस डाली की दो श्याम श्वेत चूहे जड को।
घबरा करि नीचे को कूए की ओर निहारै है,
चारि सर्प फुकार रहे बैठा अजगर मुह फारै है ॥४॥

टूटी डाल गिरा कूये मे ये पाँचो खा जा जायेंगे,
पडा मौत के मुह मे अब ये प्राण नही बचि पायेंगे।
ये विचार करता ही था एक और उपद्रव आया है,
पकड़ि सूडि से टहने को हाथी ने खूब हिलाया है ॥५॥

तरु के ऊपर मधु मक्खी का एक बड़ा छत्ता भारी,
टहनी हिलने से उड़ि मक्खी लिपटि गई इसके सारी।
काटि रही मधु मक्खी तन मे दुखित हो चिल्लाता है,
दे दे मारै पाव पेड से हाहाकार मचाता है ॥६॥

इतने मे मधु छत्ते से इक बूंद शहद की टपकी है,
ऊपर से आती लखि इसने शीघ्र फाडि मुँह लपकी है।

मधु की बूंद चाटकरि मूरख अत्यानन्द मनाता है,
एक बूंद गिरि जाय और इस आशा से मुँह बाता है ॥७॥

इतने मे क्रोधित हो गज ने टहना फेरि हलाया है,
भिन-भिन करि उडि लिपटी मक्खी पथिक खूब चिल्लाया है।

बढी वेदना अधिक अग मे हाहाकार मचाता है,
उसी समय पत्नी युत नभ मे विद्याधर इक आता है ॥८॥
बोली नारि अहो पति देखो ये नर क्या दुख पाता है,
मारि मारि करि पाँव वृक्ष से भारी रुदन मचाता है।
कृपा करो हे नाथ इसे इस दुख से शीघ्र छुडा दीजे,
बैठाकर विमान मे इसको इसके घर पहुँचा दीजे ॥९॥
हे प्यारी ये नही चलैगा इसी कष्ट मे राजी है,
चाटि शहद की बूद सभी दुख भूलि जाय ये पाजी है।
नही नही हे नाथ भला को दुख मे रहना चाहेगा,
देहु इसे आवाज अभी ये साथ तुम्हारे जायेगा ॥१०॥
इस सकट से इसे छुडावो ये ही धर्म तुम्हारा है,
भला होय इस दुखिया का कुछ बिगडे नही हमारा है।
प्रिये तुम्हारे कहने से मैं इसको अभी बुलाता हू,
किन्तु नही चलने का ये मैं तुम्हे ठीक बतलाता हू ॥११॥
बोला विद्याधर रे दुखिया तेरा कष्ट मिटा देंगे,
बैठि चलो जल्दी विमान मे तेरे घर पहुचा देंगे।
कहा दुखित ने नाथ अभी इक बूंद और चखि लेने दो,
बडा मजा आता है इसमे थोडी देर ठहरने दो ॥१२॥
थोडी देर बाद विद्याधर बोला अब आजा भाई,
जरा और थमि जाओ शहद की बूंद अभी मुह मे आई।
पुन मक्षिकाओ ने काटा तब धुनि धुनि सिर रोता है,
फिर टपकी इक बूंद शहदकी उसे चाटि खुश होता है ॥१३॥
यह कौतुक लखि विद्याधर विद्याधरनी तो जाते है,
ये तो है दृष्टान्त सुनो तुमको द्राष्टान्त सुनाते है।
भव वन अन्धे कूये मे ससार वृक्ष अति भारी है,
चौरासी लख योनि बड़ी शाखायें न्यारी न्यारो है ॥१४॥

चहुंगति चारि सर्प बैठे अजगर निगोद मुंह फारे है,
काल बलि गज खड़ा शीश पर चीख चीख हुकारे है।
आयु कर्म डाली को पकडे लटक रहा ससारी नर,
उसी डालको काट रहे है रात दिना दो चूहे जर ॥१५॥
टूट जायगी क्षणभर मे अब टहनी ये गिर जायेगा,
अजगर या इन चारो सर्पों मे से कोई खायेगा।
विषय भोग मधु छत्ता मधु की बूंद विषय की आशा है,
मधु मक्खी परिवार कुटुम्बी देते निशदिन त्रासा है ॥१६॥
श्री गुरुदेव विद्याधर सच्चे विद्याधरनी जिनवानी है,
बार बार कहने पर भी विपयी नर एक न मानी है।
वर्तमान मे गुरुदेव समझा समझा कर हारे हैं,
पर हमने मानी न एक भैय्या दुर्भाग्य हमारे हैं ॥१७॥

—•—

(२७) बाल-यौवन-मध्यावस्था और बुढ़ापा चारों पन व्यर्थ खोने वाला सेवक

(पं० मक्खनलाल)

एक भक्त राजा का सेवक सेवा निश दिन करता था,
कष्ट न होने देता नृप को दुख शोक सब हरता था।
हे नृप मिले पारितोषिक कुछ हमको यो नित कहता था,
किन्तु महालोभी नृप इसको शुष्क टलाना चहता था ॥१॥
ढूँढि निकाला एक बहाना नृप ने शुष्क टलाने का,
सेवक लो मैं देता हू अवसर अटूट धन पाने का।
खोलि देऊ रत्नो का कोठा सुबह छै बजे आजाना,
ढले तीन घटे मे तुमसे ले जाओ धन मन माना ॥२॥

श्रवण सुखद सुनि बात नृपति की सेवक घरको भागा है,
खुशी खुशी मे नीद न आई सारी निशिभर जागा है।
होत प्रभात छै बजे सेवक राजा के घर आया है,
राजा ने भी रत्नराशि वाला कोठा खुलवाया है ॥३॥
हुक्म दिया चपरासी को चाहे जितना ले जाने दो,
किन्तु नौ बजे बाद इसे इक पाई भी न उठाने दो।
करि प्रवेश रत्नालय मे सेवक ने क्या क्या देखा है,
हीरा मोती लाल जवाहर पड़े असख्य न लेखा है ॥४॥
और गौर करि इधर उधर देखा तो अजब तमाशा है,
भाँति भाँति के खेल खिलौने चिडिया घर ये खासा है।
उलटि पलटि करि लगा देखने यह घटिया ये आला है,
नौ बज गये टना टन चपरासी ने आनि निकाला है ॥५॥
बोला चपरासी से मैं कुछ भी नही लेने पाया हूँ,
एक पुटलिया बाँध लैन दो आशा करके आया हू।
चपरासी कैसे मानै जब हुक्म दिया राजा जी नें,
खेल तमासो मे खोये घटा तीनों इस पाजी नें ॥६॥
रोता गया नृपति पै हे प्रभु मैं ने कुछ नहिं पाया है,
खेल खिलौनो मे शुभ अवसर सारा व्यर्थ गमाया है।
बोला नृप कुछ बात नही चपरासी को बुलवाता हूँ,
दूजा कोठा सौने का ततकाल तुम्हे खुलवाता हूं ॥७॥
एक पहर मे जितना ढौ सकते हौ ढो ले जाओगे,
बारै बजे बाद रत्ती भर भी नहि लेने पाओगे।
सुनकर हुआ प्रसन्न कोठरा सौने का खुल जाता है,
सेवक भीतर धसा स्वर्ण के ढेर देखि हर्षाता है ॥८॥
आगे देखा महिलायें स्वागत करने कुछ आती हैं,
शची अप्सरा रति रम्भा सी हँसि हँसि चित्त लुभाती हैं।

भोग विलासो की वातो मे सारा समय व्यतीता है,
ट ट नारै वजे निकाला चपरासी ने रीता है ॥९॥
हाय हाय क्या हुआ यहाँ से भी मैं खाली जाता हूँ,
फूटि गई तकदीर कही से भी कुछ नहि ले पाता हूँ।
रोता वुनता है शीस दौडि करि पास नृपति के आया है,
अपनी मूरखता का राजा को सव हाल सुनाया है ॥१०॥

फिर तीजा कोठा भूपति ने चाँदी का खुलवाया है,
तीन बजे तक ढो ले जाओ चाहे जितनी माया है।
हर्षित होकर चाँदी के कोठे मे भीतर जाता है,
वहाँ सामने एक अपूरव गोरख धधा पाता है ॥११॥
जरा देखलूं ये क्या जिसमे उलझी सुलझी कडियाँ हैं,
हाथ लगाते गोरख धवे की खिसकी सव लडियाँ हैं।
बोला चपरासी जैसा था वैसा इसे करा लूंगा,
तव चाँदी लेने को कोठे के भीतर जाने दूंगा ॥१२॥
ज्यो ज्यो करता ठीक इसे त्यो त्यो ही और उलझता है,
हुये तीन घण्टे पर गोरख धन्धा नही सुलझता है।
ट ट तीन बजे चपरासी कहाँ मानने वाला है,
कान पकडि रीते हाथो कोठे से तुरन्त निकाला है ॥१३॥

गिड गिडाय करि बोला चपरासी कुछ तो ले लेने दो,
राजी खुशी चला जा नातर जडू कमरि में लाते दो।
करता पश्चाताप पास राजा के जाकर रोया है,
मुझ शठ ने ये अवसर भी गोरख धधे मे खोया है ॥१४॥

वोला नृप हसि करि तू मूरख कुछ नहिं लेने पायेगा,
अब ताँवा पीतल वाला चौथा कोठा खुलि जायेगा।
ये आखीर समय तांबे पीतल का भी मत खो देना,
जितना ढोया जाय तीन घटे मे उतना ढो लेना ॥१५॥

अच्छा कहकर जाय घसा ताँबे पीतल के कोठे मे,
धरा सामने भरा हुआ देखा ठडा जल लोटे मे।
हलवा पूडी कचोडी लड्डू पेड़े बालूसाई के,
भरे धरे थे थाल कटोरे रबडी दूध मलाई के ॥१६॥
सोचा दिन भर का भूखा हू पहले तो खाना खाऊँ,
पीछे जो कुछ माल मिले बोरे भरि भरि ढो ले जाऊँ।
भोजन किया पिया ठडा जल बिछा हुआ पलिका पाया,
जरा लेटि तौ लूं दिनभर का थका हुआ हूँ घबराया ॥१७॥
पडा पलग पर लगी हवा सो गया न अब जगने वाला,
बजे ठीक छै चपरासी ने पाँव पकडि बाहर डाला।
रत्न सुवर्ण रजत ताँबा पीतल कुछ ले नहि पाया है,
खेल विषय गोरख धधा भोजन मे समय बिताया है ॥१८॥
इसी तरह से हम भी नर भव के चारो पन खोते हैं,
लिया नही कुछ साथ हाथ मलिमलिकरि पीछे रोते हैं।
सम्यग्दर्शन के हित शैशव खेल कूद मे खोया है,
श्रावकपन के हित था यौवन तरुणी के सगमे सोया है ॥१९॥
मध्य अवस्था मुनिबनने को खोई गोरख धन्धे मे,
वृद्धपना अरहत दशा हित पडि गया काल के फदे मैं,
नर भव सुकुल सुथल जिनवाणी बार बार नहि पायेगा,
जो ये अवसर खोया तो भैय्या पीछे पछितायेगा ॥२०॥

—०—

(२८) जैसे शेर अपनी शक्ति को भूलकर गधा बन गया उसी प्रकार अज्ञानी अपनी मूर्खता से परिभ्रमण करता है

(पं० मक्खनलाल)

सावन भादो की अँधियारी आती आती आती है,
सुनिकरि जन्तु डरे वन के भय से छाती थरथराती है।

आपस मे सब मिलिकरि बोले यार अन्धेरी आवैगी,
शीघ्र उपाय करौ छिपने का नातर वो खा जावैगी ॥१॥

सब से पहले कहरि बोला मैं खो मे छिप जाऊँगा,
भागि जायगी जब अन्धेरी तब बाहर आ जाऊँगा।

सुनिकरि यह प्रस्ताव शेर का वैठि गया सबके दिलमे,
निर्भय होकर जाय छिपे सब ही अपने अपने बिल मे ॥२॥

इतने मे घनघोर घटा उठि कारी कारी आती है,
कडकडाट करि गर्जि गर्जि रिम झिम पानी बरसाती है।

उसी समय उस ही जगल मे कुम्भकार इक आता है,
निर्भय होकर के गधहो पर बोझ लादकर लाता है ॥३॥

उनमे से इक चचल गधहा बोझ डारि करिकै भागा,
उसे पकड़ने अन्धकार मे कुम्भकार पीछे लागा।

किन्तु गधा ऐसा भागा जो हाथ नही इसके आया,
ढूंढत ढूंढत कुम्भकार अतिक्रोधित होकर झुझलाया ॥४॥

कहाँ गया कम्बख्त खूब हैरान किया तूने मुझको,
मारि मारि ढडो से मैं भी मजा चखा दूंगा तुझको।

यो कहता कहता कुम्हार जगल मे दौडा जाता है,
जहाँ खोह मे छिपा हुआ था शेर वहाँ पर आता है ॥५॥
उधर शेर भी सोच रहा था गई अन्धेरी तो होगी,
बहुत देर हो गई मुझे क्या अब तक भी बैठि होगी।
यो विचार करि शेर खोह से बाहर निकला जब ही,
गधा समझिकरि कुम्भकार ने घेर लिया उसको तब ही ॥६॥
डडे चारि जडे टाँगो पर मारि कमरि मे लातें दो,
पूँछि मरोडि कान को खैचा चलि बच्चे अब आगे को।
काँपि गया सब अग शेर का बैठि गया दिल मे ये गम,
हाय अधेरी आय गई अब मारि मारि करि दे बेदम ॥७॥
डर के मारे कुम्भकार के शेर चला आगे आगे,
डन्डे मुक्के लात खात इतरात नही इत उत भागे।
जाय गधो मे लादि कमरि पर बोझ चला गधहो के सग,
भूलि गया सब चालि ढाल और कूद फाँद रग ढग उमग ॥८॥
जो था जगल का राजा थी धाक विपिन भर मे जिसकी,
भूलि गया निज रूप इसीसे बोझ लदा कटि पै इसकी।
जो स्वाधीन विचरता था वह आज बधा पर बधन मे,
देखि जिसे सब रोते थे वो रोता है मन ही मन मे ॥९॥
बोझ लाद कर शेर गधो सग दौडा दौडा जाता है,
आगे चलि करि एक अपूरब दृश्य सामने आता है।
देख रहा था एक दूसरा शेर पहाडी ऊपर से,
शेर लदा चलता गधहो मे थरथर काँपि रहा डर से ॥१०॥
भूलि गया निज शक्ति शेरकी बल पौरष निर्भयता को,
इसीलिये सहनी पडती हैं दुसह वेदनायें याको।
जो जाकर निज रूप दिखाऊँ तौ आवे इसको निज याद,
जाय जाति उद्धार करूँ पर बन्धन से करदूँ आजाद ॥११॥

मारि छलाँग पहाड़ी पर से आगे आनि दहाड़ा है,
देखि शेर को शेर दहाड़ा रहा नहीं कोई ठाढ़ा है।
हो भयभीत गधे भागे भागा कुम्हार निज जान बचाय,
छूटि गया पर बन्धन से वह शेर मिला शेरों मे जाय ॥१२॥

इसी भांति यह आतम निज पद भूलि मूर्छा के बन्धन मे,
बँधा अनादि काल से फिरता भ्रमत चतुर्गति जीवन मे।
जो निज बैन सुन सतगुरु के तो पहिचाने निज शुद्ध स्वरूप,
धारि परिग्रह पोट छुटै विधि बन्धन से होवे शिव भूप ॥१३॥

(२९) भूल भुलैयों का संसार

(पं० मक्खनलाल)

भूल भुलैयो वाले उपवन मे चौतरफा घेरा था,
सघन वृक्ष वल्ली मडप से रहता सदा अंधेरा था।
कही तिखूंटी टेडी मेडी कही गोल चौखूंटी है,
पता न पाता गली हजारो कहां मिली कहां छूटी है ॥१॥

होश्यार विद्वान पुरुष भी चक्कर मे पड जाता है,
साधारण अनभिज्ञ पुरुष को रस्ता ही नही पाता है।
उसमे एक पुरुष अन्धा सिर का गजा घँस जाता है,
विपदा का मारा शठ भूल भुलैयो मे फँस जाता है ॥२॥

हाय-हाय करता फिरता अब बाहर मैं कैसे निकलूं,
बहुत काल हो गया मुझे टेडा तिरछा किस ओर चलूं।
बोला एक दयालु गगन से विद्याधर मैं आता हू,
सूरदास घबराओ मत मैं तुमको यत्न बताता हू ॥३॥

सुनलो भूल भुलैयो के चौतर्फ गोल परकोटा है,
चौरासी जिसमे दरवाजे कोई बड़ा कोई छोटा है।
रहे तिरासी बन्द सदा इक चौरासीवाँ खुलता है,
ज्ञानी पुरुष निकल जाता पापी उसमे ही रुलता है ॥४॥
रख रख हाथ द्वार पर गिनते जाना एक किनारे से,
बन्द तिरासी छोड निकलना चौरासीवें द्वारे से।
धर-धर हाथ चला अन्धा दरवाजे गिनता जाता है,
छोड तिरासी बन्द द्वार चौरासीवें पर आता है ॥५॥
तब अन्धे के गजे सिर मे खाज जोर की आई है,
दरवाजो से उठा हाथ दोनो से खाज खुजाई है।
भूल गया दरवाजे गिनना आगे को बढ जाता है,
जाय फँसा फिर भूल भुलैयो मे मूरख पछताता है ॥६॥
खुले द्वार को छोड गया जो बडी कठिनाई से पाया था,
दया भाव करके विद्याधर ने जो इसे बताया था,
इसी तरह मे फँसे हुए लाख चौरासी मे ससारी,
जन्म-मरण की भूल भुलैयो मे दुख भोग रहे है भारी ॥७॥
अज्ञानी अन्धा विषयो की खाज खुजाकर राजी है,
मानुष जन्म खुला दरवाजा त्याग भ्रमै यह पाजी है।
जिनवाणी अरु गुरुदेव ने अवसर हमे बताया है,
भैय्या विषय भोग मे फँसि यह हमने वृथा गमाया है ॥८॥

—०—

(३०) शुद्ध आत्मदेव पूजन

(राजमल पवैया)

जय जय जय भगवान आत्मा, शाश्वत निकट भव्य आसन्न।
स्वय बुद्ध है स्वय सिद्ध है स्वय पूर्ण प्रभुता सम्पन्न ॥

अजर अमर अविकार अविनाशी [illegible] ज्ञान गुणवान।
परम आत्म स्वभावी सर्व गुण से संयुक्त पूर्ण भगवान॥
भाव [illegible] शाश्वत शुद्ध [illegible] अनन्त [illegible] द्रव्य।
अतः [illegible], [illegible] अतीन्द्रिय निर्मल भव्य॥

ॐ ह्रीं अनन्त शक्ति सम्पन्न शुद्ध आत्मदेवाय पुष्पाञ्जलिं क्षिपामि।

चिदानन्द शुद्धात्म द्रव्य का ज्ञानामृत जल शिव सुखमय।
मिथ्यात्व के दूर भगाने में लगता है एक समय॥
परम शुद्ध भगवान आत्मा अनन्त अनन्त गुण ज्ञानमयी।
निज निरंजन निर्मल चेतन शुद्ध बुद्ध निज ध्यानमयी॥

ॐ ह्रीं अनन्त शक्ति सम्पन्न शुद्ध आत्मदेवाय जलम् नि०

चिदानन्द शुद्धात्म द्रव्य का दर्शनमय चन्दन गुणमय।
भव ताप का आताप मिटाने में लगता है एक समय ॥परम०॥

ॐ ह्रीं अनन्त शक्ति सम्पन्न शुद्ध आत्मदेवाय चन्दनम् नि०

चिदानन्द शुद्धात्म द्रव्य के भाव पूर्ण अक्षत गुणमय।
भव समुद्र के पार उतरने में लगता है एक समय ॥परम०॥

ॐ ह्रीं अनन्त शक्ति सम्पन्न शुद्ध आत्मदेवाय अक्षतान् नि०

चिदानन्द शुद्धात्म द्रव्य का श्रेष्ठ प्रसून परम निजमय।
पर परणति के दूर भगाने में लगता है एक समय ॥परम०॥

ॐ ह्रीं अनन्त शक्ति सम्पन्न शुद्ध आत्मदेवाय पुष्पम् नि०

चिदानन्द शुद्धात्म द्रव्य का पूर्ण तृप्त नैवेद्य अजय।
चिर अतृप्ति का रोग मिटाने में लगता है एक समय ॥परम०॥

ॐ ह्रीं अनन्त शक्ति सम्पन्न शुद्ध आत्मदेवाय नैवेद्यम् नि०

चिदानन्द शुद्धात्म द्रव्य का ज्ञान प्रकाश पूर्ण निजमय।
पर परणति के दूर भागने में लगता है एक समय॥

ॐ ह्रीं अनन्त शक्ति सम्पन्न शुद्ध आत्मदेवाय दीपम् नि०

चिदानन्द शुद्धात्म द्रव्य की शुद्ध धूप निज अन्तरमय।
पर विभाव का ताप मिटाने मे लगता है एक समय ।।परम०।।
ॐ ह्री अनन्त शक्ति सम्पन्न शुद्ध आत्मदेवाय धूपम् नि०

चिदानन्द शुद्धात्म द्रव्य का परमानन्दी फल शिवमय।
दृष्टि वदल जाय तो सृष्टि वदलने मे भी एक समय ।।परम०।।
ॐ ह्री अनन्त शक्ति सम्पन्न शुद्ध आत्मदेवाय फलम् नि०

चिदानन्द शुद्धात्म द्रव्य का ज्ञान स्वभावी अर्घ अभय।
राग द्वेष की व्यथा मिटाने मे लगता है एक समय ।।
परम ब्रह्म भगवान आत्मा ध्रुव अनन्त गुण ज्ञानमयी।
नित्य निरञ्जन चिन्मय चेतन शुद्ध बुद्ध निज ध्यानमयी ।।
ॐ ह्री अनन्त शक्ति सम्पन्न शुद्ध आत्मदेवाय अर्घम् नि०

जयमाला

आत्मदेव ही देव हैं महादेव वलवान।
निज अन्तर मे जो वसा शाश्वत सुख की खान ।।
मैं आत्मदेव चैतन्य पुञ्ज, ध्रुव दर्श भूत अतीन्द्रिय हूँ।
मैं तो ज्ञानात्मक निरालम्ब, परमात्म स्वरूप अतीन्द्रिय हूँ ।।
मैं तो नारक अथवा मनुष्य तिर्यञ्च देव पर्याय नहीं।
मैं उनका करता कारयिता कर्ता का अनुमन्ता न कहीं ।।
मैं नहीं मार्गणा गुणस्थान अथवा मै जीवस्थान नहीं।
मै उनका कर्ता कारयिता कर्ता का अनुमन्ता न कहीं ।।
मैं एक अपूर्व महा पदार्थ मैं पर द्रव्यो में अक्रिय हूँ।
मैं आत्मदेव चैतन्य पुञ्ज ध्रुव दर्शन भूत अतीन्द्रिय हूँ ।।
मैं बाल नहीं मैं तरुण नहीं मैं रोगी अथवा वृद्ध नही।
मैं उनका कर्ता कारयिता कर्ता का अनुमन्ता न कहीं ।।

मैं राग नहीं मैं द्वेष नहीं मैं मोह नहीं मैं क्षोभ नहीं।
मैं उनका कर्ता कारयिता कर्ता का अनुमन्ता न कहीं।
मैं सहज शुद्ध चैतन्य विभावी पर भावों से निष्क्रिय हूँ।
मैं आत्मदेव चैतन्य पुञ्ज ध्रुव दर्शन ज्ञान अतीन्द्रिय हूँ॥
मैं क्रोध नहीं मैं मान नहीं मैं माया अथवा लोभ नहीं।
मैं उनका कर्ता कारयिता कर्ता का अनुमन्ता न कहीं॥
कर्तृत्व सकल पर है अनादि पुद्गल को तो वह नहीं।
रस गंध स्पर्श रूपादिक से मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं॥
मैं प्रकृति भूत गुण का स्वामी अपने स्वरूप में निष्क्रिय हूँ।
मैं आत्मदेव चैतन्य पुञ्ज ध्रुव दर्शन ज्ञान अतीन्द्रिय हूँ॥
मैं प्रकृति प्रदेश स्थिति बंध अनुभाग बंध के पास नहीं।
औदारिक आहारक तैजस कार्माण वैक्रियक वास नहीं॥
ये सब पुद्गल द्रव्यात्मक हैं इनसे तो आत्म प्रकाश नहीं।
ऐसा दृढ़ निश्चय किये बिना अज्ञान दशा का नाश नहीं॥
मैं ज्ञान सिन्धु परिपूर्ण शुद्ध निर्वाण सुन्दरी को प्रिय हूँ।
मैं आत्मदेव चैतन्य पुञ्ज ध्रुव दर्शन ज्ञान अतीन्द्रिय हूँ॥
ॐ ह्रीं [illegible] सम्पन्न आत्मदेवाय पूर्णार्घ्यम् नि०

आत्मदेव का आश्रय ही जग में है सार।
पूर्ण शुद्ध चैतन्य घन मंगलमय शिवकार॥

इत्याशीर्वाद

जाप्य—ॐ ह्रीं श्री गुणागार देवाय नमः

(३१) मुमुक्षुओं के लिए खुला पत्र

तीन लोक तिहु काल माँहि नहि दर्शन सो सुखकारी,
सकल धर्म को मूल यही, इस बिन करनी दुखकारी॥
मोक्षमहल की परथम सीढ़ी या बिन ज्ञान चरित्रा,
सम्यक्ता न लहै सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।

'दौल' समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै,
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहिं होवै ॥

आत्मार्थी बन्धु — सविनय जय जिनेन्द्र देव की।

(१) ससार मे प्रत्येक जीव सुख चाहता है। सुख पाने के लिए अनादि से पर वस्तुओ को अपनेरूप परिणामाने का उपाय कर रहा है, लेकिन पर वस्तुएँ अपनेरूप नही परिणमती, इससे यह दु.खी बना रहता है। यह स्वय अनादिअनन्त जीव है, इसका एक बार आश्रय ले लें तो पर वस्तुओ के परिणमाने की जो कर्ता भोक्ताबुद्धि है और पराश्रय व्यवहार की रुचि है वह छूट जावे, धर्म की प्राप्ति होकर क्रम से पूर्णता को प्राप्त करे।

(२) सोना, उठना, बैठना, हाथ धोना, नहाना, हाथ जोडना, नमस्कार करना, मन्त्र जपना, मुह से पूजा आदि की क्रिया होना, किताब उठाना धरना, रोटी खाना, कपडे पहिनना, उतरना, पाँचो इन्द्रियो के भोग भोगना, पाँचो इन्द्रियाँ, शब्द बोलना, मन-वचन-तन तथा कर्म का उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षयादि आठकर्म तथा आठ कर्म के १४८ प्रकृतियाँ इन सब का कर्ता-कर्म, भोक्ता-भोग्य एक मात्र पुद्गल द्रव्य ही है। जीव से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नही है। ऐसी भगवान की आज्ञा है। तब मैंने रुपया कमाया, बाल-बच्चो का पालन-पोषण किया, उपदेश दिया, बाहरी अनशन अवमौदर्यादि किया इस बात के लिये अवकाश ही नही है। मैं तो अनादिअनन्त, नित्य, ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा हू। ऐसा जानकर अपने त्रिकाली कारण-परमात्मा का आश्रय ले तो अपने मे अपूर्व शान्ति आवे, जन्म-मरण का अभाव हो।

(३) ससार मे अपनी आत्मा को छोडकर जो पर पदार्थ है, वह इष्ट अनिष्ट नही है परन्तु अज्ञानी को अपनी आत्मा का अनुभव नही होने से जिसको चाहता है उसमे राग करता है और इष्ट मानता है। जिसको नही चाहता है उसमे द्वेष करता है, और अनिष्ट मानता

है। व्यर्थ मे अनादि से पर पदार्थों को इष्ट अनिष्ट मानने के कारण चारो गति का पात्र बनकर निगोद मे चला जाता है। इसलिए इष्ट अनिष्ट रहित अपना ज्ञायक एकरूप भगवान आत्मा है उसका आश्रय लेवे तो मोक्ष का पथिक बन जाता है और अनादि की इष्ट अनिष्ट की खोटी मान्यता का नाश हो जाता है।

(४) अज्ञानी अनादिकाल से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि अशुभ भाव हेय मानता है। अणुव्रत, महाव्रत, दया-दान पूजा, प्रतिष्ठा यात्रा आदि के शुभ भावो को उपादेय मानता है यह महान अनर्थ मिथ्यात्व का महान पाप है। क्योकि भगवान ने शुभभावो को बध का कारण, दुख का कारण, आत्मा का नाश करने वाला, अपवित्र, जड-स्वभावी बताया है और भगवान आत्मा को अबन्धस्वरूप, सुखरूप, आत्मा को प्रगट करने वाला, पवित्र, चेतन-स्वभावी उपादेय ही बताया है। ऐसा जानकर शुभाशुभ भाव रहित अपने भगवान आत्मा का आश्रय लेवे तो पर्याय मे सुख और ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। उसकी गिनती पचपरमेष्ठियो मे होने लगती है। मिथ्यात्वादि पाँच कारणो का तथा पच परावर्तनरूप ससार का अभाव हो जाता है, और अनादिअनन्त परम पारिणामिक भाव का महत्व आ जाता है।

(५) धर्म का सम्बन्ध बाहरी क्रियाओ से तथा शुभाशुभ भावो से सर्वथा नही है। मात्र आत्मा के धर्म का सम्बन्ध अपने अनन्त गुणो के अभेद पिण्ड से ही है। पात्र जीव उस अभेद पिण्ड भगवान का आश्रय लेकर शुद्धोपयोग दशा मे प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति चौथे गुणस्थान मे करता है तब उसे भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझ मे आता है। चौथे गुणस्थान मे उसे सिद्ध अरहत, श्रेणी, मुनि श्रावकपना क्या है, उसका पता चलता है। तथा मिथ्यादृष्टि एक मात्र मिथ्यात्व के कारण ही दुखी है। ससार के प्रत्येक द्रव्य की अवस्था जैसी केवली के ज्ञान मे आती है वैसा ही साधक ज्ञानी चौथे गुणस्थान मे जानता है, मात्र प्रत्यक्ष-परोक्ष का

भेद है। भगवान की वाणी का रहस्य सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना तीन काल, तीन लोक मे ११ अग ६ पूर्व के पाठी को भी नही हो सकता है। इसलिए द्रव्यलिंगी को शुक्ललेश्या तथा ज्ञान का उघाड होने पर भी मिथ्यादृष्टि असयमी, ससार का नेता कहा है। फिर भी धर्म मे विघ्न करने वाले कुछ महानुभावो को कुछ परलक्षी ज्ञान का उघाड़ होने से शास्त्रो का अर्थ, निश्चय व्यवहार की सधि का रहस्य न जानने के कारण अणुव्रत महाव्रत, दया, दान, यात्रादि करो, बाहरी क्रिया करो, पाठ करो, इससे धीरे-धीरे धर्म होगा और जीव को कर्म चक्कर कटाता है, कर्म हटे तो जीव का भला हो, जितनी तुम शुभ भाव की क्रिया करोगे उतनी जल्दी कर्म दूर हो जावेंगे। कोई शुद्धोपयोग आठवें गुणस्थान मे, कोई १२ वें गुणस्थान मे बतलाते हैं। इसलिए हे भाई, जो तुम्हे ऐसा उपदेश देता है और तुम उसे मानते हो, तो अनादि से अगृहीतमिथ्यात्व तो चला ही आ रहा था और उसमे गृहीतमिथ्यात्व को पुष्टि हो गई। वर्तमान मे ऐसे धर्म में विघ्न करने वाले महानुभावो की विशेषता है, इसलिए इनसे बचना चाहिये। यदि आप बाहरी क्रियाओ तथा शुभभावो से भला होता है ऐसी बातो मे पडे रहोगे तब तो वर्तमान मे त्रस की स्थिति पूरी होने को आई है और निगोद मुह बाए खड़ा है। सावधान ! सावधान।

(६) अनादि से तीर्थकरादि कहते आये हैं कि तुम्हारा कल्याण एकमात्र अपनी आत्मा के आश्रय से ही होता है। मोक्षमार्ग एक ही है और वह है वीतरागरूप। परन्तु उसका कथन दो प्रकार का है शुभभाव पुण्यबध का कारण है तथा प्रवचनसार मे जो पुण्य-पाप में अन्तर डालता है वह घोर ससार मे घूमता है, ऐसा कहा है। तो आज वर्तमान युग मे इन बात के (जिनेन्द्र भगवान की वात के) परम सत्य वक्ता श्री कानजीस्वामी है, जिन्होने वर्तमान मे पात्र जीवो को तीर्थंकर भगवान का विरह भुला दिया है ओर पचमकाल को चौथे काल के समान बना दिया है। यदि आपको अपना कल्याण करना हो तो सब बातो की मूर्खता छोड़कर हर साल अगस्त मे क्लास

लगती है और लगेगी, उसमें आवे। ताकि सत्य बात क्या है ? उसको जानकर अपनी आत्मा का आश्रय लेकर धर्म की प्राप्ति हो। मेरे विचार मे यदि किसी का कल्याण होना है तो उसमे पूज्य श्री कानजी स्वामी मे ही निमित्तपने की योग्यता है। आपमे पवित्रता के साथ पुण्य का मेल भी उत्कृष्ट है। याद रहे, होगा अपने से ही, श्री कानजी स्वामी से नही। जिनेन्द्र भगवान के घर का रहस्य बतलाने वाला वर्तमान मे मेरे विचार से और कोई दृष्टिगोचर नही होता। इसलिए भाई इस कार्य को तुरन्त करो।

(७) जिसने अपना कल्याण करना हो, उसे श्री उमास्वामी भगवान ने जो तत्वार्थसूत्र मे 'सद्द्रव्य लक्षणम् और उत्पादव्यय ध्रोव्य-युक्त सत्" बताया है उसका रहस्य जानना चाहिये। उसको जानने के लिये ६ द्रव्य, सात तत्व, ४ अभाव, ६ कारक, द्रव्य-गुण पर्याय की स्वतन्त्रता उपादान-उपादेय, निश्चय-व्यवहार, निमित्त नैमित्तिक, त्यागने योग्य मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चरित्र और ग्रहण करने योग्य सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि बातों का सूक्ष्म रीति से अभ्यास करना चाहिये। ताकि प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतन्त्रता जानकर, अपने त्रिकाली स्वभाव का आश्रय लेकर सुखी होवे। इसके अलावा और उपाय नही है।

(८) अपने कल्याण के लिये पुण्यभाव, पुण्यकर्म पुण्य की सामग्री तथा परलक्षी ज्ञान की किंछित्-मात्र आवश्यकता नही है। एक मात्र तू भगवान आत्मा अनादिअनन्त है ऐसा जाने, उसकी ओर दृष्टि करे। जो भगवान अनादि से शक्तिरूप था, वह पर्याय मे प्रगट हो जाता है। इसलिये सम्यक्दर्शनादि प्राप्ति के लिये, पर पदार्थों से शुभाशुभ भावो से बिल्कुल दृष्टि उठाओ। यदि पर का, शुभाशुभ भावो का जरा भी आश्रय रहेगा, तो कभी भी धर्म की प्राप्ति नही होगी। वास्तव मे अपूर्ण-पूर्ण शुद्ध पर्याय भी आश्रय करने योग्य नही हैं। इसलिये एक मात्र आश्रय करने योग्य अपना भगवान ही है।

और प्रगट करने योग्य सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। ऐसा जानकर स्वभाव का आश्रय ले तो अनादि का संकट मिट जावे और अपने आप का पता चले, तब अपने मे स्थिरता, वृद्धि, पूर्णता करके, मोक्ष का पथिक बने।

(९) बालपन खेलकूद मे बीता, जवानी विषयभोगो मे खोई, वृद्धपना मृतकरूप है इसलिए समय रहते चेतो! चेतो!!

अमर मानकर निज जीवन को परभव हाय भुलाया।
चान्दी सोने के टुकडो मे, फूला नही समाया॥
देख मूढता यह मानव की, उधर काल मुस्काया।
अगले भव मे ले चला यहाँ नाम निशान न पाया॥
लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ।
तोरि सकल जग द्वन्द फन्द, नित आतम ध्याओ॥
त्रिविध आतम जानके, तज बहिरातम भाव।
होयकर अन्तर आतमा परमातम को ध्याव॥
ज्यो मन विषयो मे रमे, त्यो हो आतम लीन।
शीघ्र मिले निर्वाण पद, धरे न देह नवीन॥

भवदीय
—कैलाशचन्द्र जैन

(यह पत्र प०जी ने अपने हितैषियो को सोनगढ से ११-७-१९६९ को भेजा था तो हमारे मडल ने इसे अब छठंवी बार छापा है ताकि पात्र जीव थोडे मैं समझकर अपना कल्याण कर लेवे।)

—o—

(३२) दशलक्षण धर्म

दशलक्षणी-पर्युषणपर्व वर्ष मे तीन बार (माघ, चैत्र व भाद्र मास मे) आता है। दसलक्षणी पर्युषणपर्व यह आराधना का महान पर्व है। चैतन्य की भावना पूर्वक सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र की

आराधना या उत्तमक्षमादि धर्मरूप वीतराग भाव की उत्कृष्टरूप से उपासना, इसका नाम पर्युषण है। जैसे रत्नत्रय के व दशधर्मों के उत्कृष्ट आराधक मुनिवरो है वैसे गृहस्थ श्रावको को भी अपनी भूमिका के अनुसार आंशिकरूप से उन सब धर्मों की आराधना होती है।

ऐसी आराधना की भावना करना, आराधना के प्रति उत्साह बढाना, आराधक जीवो के प्रति बहुमान से वर्तना-इत्यादि सब तरह के उद्यम से आत्मा को आराधना मे लगाना, यह मुनि व श्रावक सभी का कर्तव्य है। इस लेख के द्वारा हम सबको ऐसी आराधना की प्रेरणा मिलती रहे-यही भावना है।

१. उत्तमक्षमा धर्म की आराधना

उत्तम छिमा जहाँ मन होई, अन्तर बाहिर शत्रु न कोई ॥

श्रेणिक राजा ने घोर उपसर्ग करने पर भी श्री यशोधर मुनिराज स्वरूप की आराधना मे डिगे नहि, क्षमाभाव धारण करके श्रेणिक को भी धर्मप्राप्ति का आशीर्वाद दिया।

दूसरी ओर श्रेणिक राजा ने भी धर्म की विराधना का अनन्त क्रोध परिणाम छोडकर सम्यग्दर्शन मे धर्म की आराधना प्रगट की; यह भी उत्तमक्षमा की आराधना का एक प्रकार है।

क्रोध के बाह्य प्रसग उपस्थित होने पर भी, रत्नत्रय को दृढ आराधना के बल पर क्रोध की उत्पत्ति नही होने देना और वीतराग-भाव रहना, असह्य प्रतिकूलता आने पर भी आराधना मे भग नही होने देना-वह उत्तम क्षमा की आराधना है। ऐसी क्षमा के आराधक सन्तो को नमस्कार हो।

२. उत्तम मार्दव धर्मकी आराधना

उत्तम मार्दव विनय प्रकाशे, नाना भेद ज्ञान सब भासे ॥

ध्यानस्थ बाहुबली के चरणो मे आकर भरत चक्रवर्ती ने पूजन

किया तो भी वाहुवली ने गर्व न करके निजध्यान मे तत्पर होकर तत्क्षण ही केवल ज्ञान उपजाया। निर्मल भेदज्ञान से जिसने सारे जगत को अपने से भिन्न स्वप्नवत् देख लिया है,और जो आत्मभावना मे तत्पर है उस को जगत के किसी भी पदार्थ मे गर्व का अवकाश ही कहा है ? रत्नत्रयकी आराधना मे ही जिसका चित्त तत्पर है ऐसे मुनि भगवतो को चक्रवर्ती नमस्कार करे तो भी मान नही होता, और कोई तिरस्कार करे तो दीनता भी नही होती; ऐसे निर्मान मुनि भगवतो को नमस्कार हो।

पचपरमेष्टी आदि धर्तात्मा गुणीजनो के प्रति वहुमान पूर्वक विनयप्रवर्तन यह भी मार्दव धर्म का एक प्रकार है।

३. उत्तम आर्जव धर्म की आराधना

उत्तम आर्जव कपट मिटावे, दुरगति त्याग सुगति उपजावै।

जो भवभ्रमण से भयभीत है और रत्नत्रय की आराधना मे तत्पर हैं ऐसे मुनिराज को अपनी रत्नत्रय की आराधना मे लगे हुए छोटे या वडे दोष को छिपाने की वृति नही होती, किन्तु जैसे माता के पास मे बालक सरलता मे सव कह दें वैसे गुरु के पास जाकर अत्यन्त सरलता से अपना सर्वदोष प्रगट करते है, और इस प्रकार अति सरल परिणाम से आलोचना करके रत्नत्रय मे लगे हुए दोषो को नष्ट करते है। एव गुरु वगैरह के उपकार को भी सरलता से प्रसिद्ध करते हैं। ऐसे मुनिवरो को उत्तम आर्जवधर्म की आराधना होती है। ऐसे आर्जव-धर्म के आराधक सन्तो को नमस्कार हो।

४. उत्तम शौचधर्म की आराधना

उत्तम शौच लोभ परिहारी, सतोषी गुन रतन भडारी ॥

उत्कृष्टतया लोभ के त्यागरूप जो निर्मल परिणाम वही उत्तम शौचधर्म है। भेद ज्ञान के द्वारा जगत के समस्त पदार्थों से जिसने

अपने आत्मा को भिन्न जान लिया है, देह को भी अत्यत जुदा जानकर उसका भी ममत्व छोड दिया है, और पवित्र चैतन्यतत्त्व की आराधना मे जो तत्पर है ऐसे मुनिवरो को किसी भी परद्रव्य के ग्रहण की लोभवृत्ति नही होती,भेदज्ञानरूप पवित्र जल से मिथ्यात्वादि अशुचीको धो डाली हैं, वह शौचधर्म के आराधक है। अहा, जगत के समस्त पदार्थो संबधी लोभ को छोड करके, मात्र चैतन्य को साधने मे ही तत्पर ऐसे यह शौचधर्मवत मुनिवरो को नमस्कार हो।

५. उत्तम सत्यधर्म की आराधना

उत्तम सत्य वचन मुख बोलें, सो प्राणी ससार न डोलें।

मुनिराज वचनविकल्प को छोडकरके सत्स्वभाव को साधने मे तत्पर है, और यदि वचन बोले भी तो वस्तुस्वभाव के अनुसार स्वपर हितकारी सत्यवचन ही बोलते है; उसको सत्यधर्म की आराधना होती है। मुनिराज सत्यग्ज्ञान से वस्तुस्वभाव जान करके उसी का उपदेश देते है, श्रोताजन आत्मज्योति के सन्मुख हो और उनका अज्ञान दूर हो वैसा उपदेश देते हैं। और आप स्वयं भी आत्मज्योति मे परिणत होने के लिये उद्यत रहते है। ऐसे उत्तम सत्यधर्म के आराधक सन्तो को नमस्कार हो।

६. उत्तम संयम धर्म की आराधना

उत्तम संजम पाले ज्ञाता, नर भव सफल करै ले साता।

भगवान रामचन्द्र जी मुनि होकर के जब निज स्वरूप को साध रहे थे तब, प्रतीन्द्र हुए सीता के जीवने उन्हे डिगाने की अनेक चेष्टाए की, लेकिन रामचन्द्र जी अपने उत्तम सयम की आराधना मे दृढ रहे और केवलज्ञान प्रगट किया।

वैसे ही श्रावकोत्तम श्री सुदर्शन शेठ को प्राणान्त जैसा प्रसग

उपस्थित होने पर भी वह अपने संयम में दृढ रहे, और आगे बढ़कर मुनि होकर केवलज्ञान पाया।

अंतर्मुख होकर निज स्वरूप में जिसका उपयोग गुप्त हो गया है ऐसे मुनिवरो को स्वप्न मे भी किसी जीव को हनने की वृत्ति या इन्द्रियविषयों की वृत्ति नही होती, उन उत्तम संयम के आराधक मुनिवरो को नमस्कार हो।

७. उत्तम तप धर्म की आराधना

उत्तम तप निरवांछित पालै, सो नर करम शत्रु को टालै।

शत्रुंजयगिरि के ऊपर ध्यानरत पांडव भगवन्तो को धग धगते अग्नि के उपद्रव होने पर भी वे अपने ध्यानरूप तप से डिगे नही। वैसे ही चैतन्य ध्यान मे रत बाहुबली भगवान ने एक वर्ष तक अडिगता से शीत-घाम व वर्षा के उपसर्ग सहे, चैतन्य के ध्यान द्वारा विषय—कषायो को नष्ट किया, और चैतन्य के उग्र प्रतपन से केवलज्ञान प्रगट किया। घोर उपसर्ग होने पर भी पार्श्वनाथ तीर्थंकर निज स्वरूप के ध्यानरूप तप से नही डिगे, न तो उन्होने धरणेन्द्र के ऊपर राग किया और न कमठ के प्रति द्वेष, वीतराग होकर केवलज्ञान प्रगट किया। इस प्रकार स्वसन्मुख उपयोग के उग्र प्रतपन से कर्मों को भस्म करने वाले उत्तम तपधर्म के आराधक सन्तो को नमस्कार हो।

८. उत्तम त्याग धर्म की आराधना

उत्तम त्याग करै जो कोई, भोग भूमि-सुर-शिव सुख होई।

'मैं शुद्ध चैतन्यमय आत्मा हूँ, देहादि कुछ भी मेरा नही' इस प्रकार सर्वत्र ममत्व के त्यागरूप परिणाम से चैतन्य मे लीन होकर मुनिराज उत्तम त्याग धर्म की आराधना करते हैं।

श्रुत का व्याख्यान करना, साधर्मीओ को पुस्तक, स्थान या संयम के साधन आदि देना वह भी उत्तम त्याग का प्रकार है, कोई मुनिराज

उत्तम नवीन शास्त्र पढ रहा हो, और दूसरे मुनिराज मे वह शास्त्र की उत्कंठा देखे तो तुरन्त ही बहुमान के साथ वह शास्त्र उनको समर्पण करते हैं,—यह भी उत्तम त्याग का एक प्रकार है। सर्वत्र ममत्व को त्याग कर, सर्व परभाव के त्याग स्वरूप ज्ञान स्वभाव की आराधना मे तत्पर उत्तम त्यागी मुनिवरो को नमस्कार हो।

९. उत्तम आकिंचन्य धर्म की आराधना

उत्तम आकिंचन व्रत धारै, परम समाधि दशा विसतारै।

भेदज्ञान के बल से सर्वत्र ममत्व छोडकर चैतन्य भावना मे रत होने वाले मुनिराज, शास्त्रो के गहरे रहस्य का ज्ञान दूसरे मुनिओ को भी बिना सकोच देते हैं; सिंह आकर के शरीर को खा जाय तो भी देह का ममत्व नही करते। चक्रवर्ती भरत जैसे क्षणभर मे षट्खड का वैभव छोडकर के ज्ञाता स्वभाव के सिवाय कुछ भी मेरा नही'— ऐसी अकिंचन भावनारूप परिणत हुए।

'शुद्ध ज्ञान दर्शनमय एक आत्मा ही मेरा है, इसके सिवाय अन्य कुछ भी मेरा नही'—ऐसे भेद ज्ञान के बल से देहादि समस्त परद्रव्यो मे, रागादि समस्त परभावो मे ममत्व का परित्याग करके जो अकिंचन भावना मे तत्पर हैं ऐसे उत्तम आकिंचन्य धर्म के आराधक मुनिवरो को नमस्कार हो।

१०. उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म की आराधना

उत्तम ब्रह्मचर्य मन लावै, नर सुर सहितमुकति पद पावै।

जिस सीता जी के विरह मे पागल जैसे ही गये थे वही सीता द्वारा ललचाये जाने पर भी भगवान रामचन्द्र जी विषय भोगों मे ललचाये नही व उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म की आराधना मे लीन होकर के सर्वज्ञ परमात्मा हुए।

धर्मात्मा जयकुमार देवीयो के द्वारा भी ब्रह्मचर्य से डिगे नहीं,

धर्मात्मा शेठ सुदर्शन प्राणान्त जैसे प्रसग आने पर भी अपने ब्रह्मचर्य व्रत से डिगे नही । रावण के द्वारा अनेक तरह से ललचायी जाने पर भी भगवती सीता अपने ब्रह्मचर्य से नही डिगी ।

जगत के सर्व विपयो से उदासीन होकर ब्रह्मस्वरूप निजात्मा मे जिसने चर्या प्रगट की ऐसे उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म के आराधक सन्त धर्मात्माओ को नमस्कार हो ।

—०—

(३३) भगवान महावीर

दीपावली मंगल दीपावली कार्तिक वदी अमावस्या का सुप्रभात

सारा भारत आज अनोखे आनन्द से यह दीपोत्सव मना रहा है । किसका है यह मगल-दीपोत्सव ?

पावापुरी का पवित्रधाम हजारो दीपको की जगमगाहट से आज दिव्य शोभा को धारण कर रहा है । वीरप्रभु के चरण समीप बैठ करके भारत के हजारो भक्तजनो वीरप्रभु के मोक्ष गमन का स्मरण कर रहे है और उस पवित्र पद की भावना भा रहे हैं । अहा ! भगवान महावीर ने आज ससार बन्धन से छूटकर अभूतपूर्व सिद्धपद प्राप्त किया । अभी वे सिद्धालय मे विराज रहे हैं । पावापुरी के जल-मन्दिर के ऊपर लोकशिखर पर अपने सिद्ध पद मे प्रभू विराजमान हैं ।

कैसा है यह सिद्धपद ? सन्तो के हृदयपट मे उत्कीर्ण यह सिद्धपद का वर्णन करते हुए श्री कुन्दकुन्दास्वामी नियमसार मे कहते हैं कि—

कर्माष्टिवर्जित परम जन्म-जरा-मरणहीन शुद्ध है ।
ज्ञानादि चार स्वभाव है अक्षय अनाश अछेद्य है ।।
अनुपम अतीन्द्रिय पुण्यपापविमुक्त अव्याबाध है ।
पुनरागमनविरहित निरालबन सुनिश्चल नित्य है ।।

मात्र सिद्धदशा मे ही नही परन्तु इसके पहले ससार अवस्था के

समय मे भी जीवो मे ऐसा ही स्वभाव है, यह दर्शाते हुए नियमसार मे कहते हैं कि—

जैसे जीवो है सिद्धिगत वैसे ही सब ससारी है।
वे भी जनम-मरणादिहीन अरु अष्टगुण सयुक्त है॥
अशरीर अरु अविनाश है निर्मल अतीन्द्रिय शुद्ध है।
सिद्धलोके सिद्ध जैसे वैसे सब ससारी है॥

प्रभू महावीर ने आज के दिन ऐसा महिमावत सिद्धपद प्राप्त किया। कैसा था वह महावीर...... ...और किस प्रकार से उन्होने ऐसा सुन्दर सिद्धपद प्राप्त किया ?—कि जिसके आनन्द का उत्सव हजारो दीपको से आज भी सारा भारत मना रहा है ?

हम सबकी तरह वे महावीर भगवान भी एक आत्मा है। हमारी तरह पहले वह भी ससार मे थे। अरे ! वह होनहार तीर्थंकर जैसा आत्मा भी जब तक आत्मज्ञान नहिं करता तब तक अनेक भव मे ससार भ्रमण करता है। इस प्रकार भव चक्र मे रुलते रुलते वह जीव एक बार विदेहक्षेत्र मे पुडरीकिणी नगरी के मधुवन मे पुरुरवा नामक भील राजा हुआ, उस वख्त सागरसेन नामक मुनिराज को देख के पहले तो वह उन्हे मारने को तैयार हुआ, किन्तु बाद मे उसको वनदेवता समझकर नमस्कार किया व उनके शात वचनो से प्रभावित होकर के मासादिक त्याग का व्रत ग्रहण किया। व्रत के प्रभाव से पहले स्वर्ग का देव हुआ, फिर वहाँ से अयोध्यापुरी मे भरतचक्रवर्ती का पुत्र मरीची हुआ; २४वे अन्तिम तीर्थंकर का जीव प्रथम तीर्थंकर का पौत्र हुआ। वहाँ अपने पितामह के साथ-साथ उसने भी दिगम्बरी दीक्षा तो ले ली, परन्तु वह वीतराग-मुनिमार्ग का पालन नही कर सका, उनसे भ्रष्ट होकर के उसने मिथ्यामार्ग का प्रवर्तन किया। मान के उदय से उसको ऐसा विचार हुआ कि जैसे भगवान ऋषभ-दादा ने तीर्थंकर होकर के तीन लोक मे आश्चर्यकारी सामर्थ्य प्राप्त किया है वैसे मैं भी अपना स्वतन्त्र मत चलाकर उसका नेता होकर

उनकी तरह इन्द्र द्वारा पूजा की प्रतीक्षा करूँगा, मैं भी अपने दादा की तरह तीर्थंकर होऊँगा। (भावी तीर्थंकर होने वाले द्रव्य मे तीर्थंकरत्व की लहरें जगी !)

एक बार भगवान ऋषभदेव की सभा मे भरत ने पूछा : प्रभो ! क्या इस सभा मे से भी कोई आपके जैसा तीर्थंकर होगा ? तब भगवान ने कहा—हाँ, यह तेरा पुत्र मरीचीकुमार इस भरतक्षेत्र मे अन्तिम तीर्थंकर (महावीर) होगा। प्रभु की ध्वनि मे अपने तीर्थंकरत्व की बात सुनते ही मरीची को अतीव आत्मगौरव हुआ। फिर भी अब तक उसने धर्म की प्राप्ति नही की थी। अरे ! तीर्थंकर देव का दिव्यध्वनि सुन करके भी उसने सम्यक् धर्म को ग्रहण नही किया। आत्मभान के बिना वह जीव ससार के अनेक भवो मे रुला।

महावीर का यह जीव, मरीची का अवतार पूर्ण करके ब्रह्म-स्वर्ग का देव हुआ। इसके बाद मनुष्य व देव के अनेक भव मे भी मिथ्यामार्ग का सेवन करता रहा; अन्त मे मिथ्यामार्ग के सेवन के कुफल से समस्त अधोगति मे जन्म धार-धार के त्रस स्थावर पर्यायो मे असख्यात वर्षो तक तीव्र दु ख भोगा। ऐसे परिभ्रमण करते-करते वह आत्मा अतीव कथित व खेदखिन्न हुआ।

अन्त मे असख्यात भवो मे घूम घूम के वह जीव राजगृही मे एक ब्राह्मण का पुत्र हुआ। वह वेद वेदान्त मे पारगत होने पर भी सम्यग्दर्शन से रहित था इसलिये उसका ज्ञान व तप सब व्यर्थ था। मिथ्यात्व के सेवनपूर्वक वहा से मर करके देव हुआ, वहाँ से फिर राजगृही मे विश्वनन्दी नामक राजपुत्र हुआ। और वहा एक छोटे से उपवन के लिये ससार की मायाजाल देख के वह विरक्त हुआ और सभूतस्वामी के पास जैन दीक्षा ले ली। वहाँ से निदान के साथ आयु पूर्ण करके स्वर्ग मे गया, और वहाँ से भरतक्षेत्र के पोदनपुर नगरी मे बाहुबलीस्वामी की वश परपरा मे त्रिपृष्ठ नाम का अर्धचक्री (वासुदेव) हुआ; और तीव्र आरभ परिग्रह के परिणाम से अतृप्तपन

से ही मरकर वहाँ से सातवी नरक गया। अरे ! उस नरक के घोर दु खो की क्या बात ? ससार भ्रमण मे रुलते हुए जीव ने अज्ञान से कौन-कौन से दु ख नही भोगे होगे ! ।

महान कष्ट से असख्यात वर्षो की यह घोर नरक यातना की वेदना पूर्ण करके वह जीव गगा किनारे सिंहगिरि के ऊपर सिह हुआ, फिर वहा से दधकती अग्नि के समान प्रथम नरक मे गया" और वहाँ से निकलकर जम्बुद्वीप के हिमवन पर्वत पर देदीप्यमान सिंह हुआ महावीर के जीवने इस सिंह पर्याय मे आत्म लाभ प्राप्त किया। किस तरह वह आत्म लाभ पाया—यह प्रसग पढिये—

एकबार वह सिह क्रूरता से हिरन को फाडकर खाता था। उसी समय आकाश माग से जाते हुए दो मुनियो ने उसको देखा और 'यह जीव होनहार अन्तिम तीर्थकर है' ऐसे विदेह के तीर्थकर के वचन का स्मरण करके, दयावश आकाशमार्ग से नीचे उतर के, सिह को धर्म सम्बोधन करने लगे. अहो, भव्य मृगराज ! इसके पहले त्रिपृष्ठवासु देव के भव मे तूने वहुत से वाछित विषय भोगे, एव नरक के अनेक विध घोर दु ख भी अशरण रूप से आक्रन्द कर करके तूने भोगे, उस वस्त चहू आर शरण के लिए तूने पुकार की किन्तु तूझ कही भी शरण न मिला। अरे ! अब भी तूँ क्रूरतापूर्वक पाप का उपार्जन क्यो कर रहा है ? घोर अज्ञानके कारण अब तक तूने तत्वो को नही जाना और वहुत दु ख पाया। इसलिये अब तू शान्त हो और इस दुष्ट परिणाम को छोड ! मुनिराज के मधुर वचन सुनते ही सिंह को अपने पूर्व भवो का ज्ञान हुआ, नेत्रो से अश्रुधारा बहने लगी परिणाम विशुद्ध हुए। तब मुनिराज ने देखा कि अब इस सिंह के परिणाम शान्त हुआ है और वह मेरी ओर आतुरता से देख रहा है इसलिये अभी अवश्य वह सम्यक्त्व का ग्रहण करेगा।

ऐसा सोचकर मुनिराज ने पुरुरवा भील से लेकर के अनेक भव दिखा करके कहा कि रे शार्दूलराज ! अबदशवे भव मे तूँ भरतक्षेत्र

का तीर्थंकर होगा—ऐसा हमने श्रीधर तीर्थंकर के मुख से सुना है। इसलिये हे भव्य ! तू मिथ्यामार्ग निवृतहो और आत्महितकारी ऐसे सम्यक्मार्ग मे प्रवृत हो।

महावीर का जीव सिंह मुनिराज के वचन से तुरन्त ही प्रतिबोधित हुआ। उसने अत्यन्त भक्ति से वारंबार मुनियो की प्रदक्षिणा की और उनके चरणो मे नम्रीभूत हुआ। रौद्ररस के स्थान मे तुरन्त ही शान्त रस प्रगट किया। और उसने तत्क्षण ही सम्यक्त्व प्राप्त किया इतना ही नही, उसने निराहारव्रत भी धारण किया। अहा ! सिंहका शूर वीरपना सफल हुआ। शास्त्रकार कहते है कि उस समय उसने ऐसा घोर पराक्रम प्रकट किया कि यदि तिर्यंच पर्याय मे मोक्ष होता तो अवश्य ही वह मोक्ष पा जाता ! सिंहपर्याय मे समाधिमरण करके वह सिंहकेतु नाम का देव हुआ।

वहाँ से धातकी खण्ड के विदेह क्षेत्र मे कनकोज्वल नाम का राजपुत्र हुआ, अब धर्म के द्वारा वह जीव मोक्ष की नजदीक मे पहुच रहा था। वहा वैराग्य से सयम धारण करके सातवे स्वर्ग मे गया। वहा से साकेतपुरी (अयोध्या) मे हरिषेण राजा हुआ और सयमी होकर के स्वर्ग मे गया। फिर धातकी खण्ड मे पूर्व विदेह की पुडरीकिणी नगरी मे प्रियमित्र नाम का चक्रवर्ती राजा हुआ क्षेमकर तीर्थंकर के सान्निध्य मे दीक्षा ली और सहस्रार स्वर्ग मे सूर्यप्रभदेव हुआ। वहाँ से जबुद्वीप के छत्तरपुर नगर मे नन्दराजा हुआ और दिक्षा लेकर उत्तम सयम का पालन कर, ११ अग का ज्ञान प्रगट करके, दर्शनविशुद्धि प्रधान सोलह भावनाओ के द्वारा तीर्थकर नाम कर्म बाधा और ससार का छेद किया, उत्तम आराधना सहित अच्युपस्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान मे इन्द्र हुआ।

वहाँ से चयकर महावीर का वह महान आत्मा, भरत क्षेत्र मे वैशाली के कुण्डलपुर के महाराजा सिद्धार्थ के यहाँ अन्तिम तीर्थकर के रूप मे अवतरित हुआ—प्रियकारिणी माता के यह वर्द्धमान पुत्र ने चैत्र शुक्ल १३ के दिन इस भरतभूमि को पावन की। इस वीर वर्द्ध-

मान वाल तीर्थंकर को देखते ही सजय व विजय नाम के दो मुनियो का सन्देह दूर हुआ, इससे प्रसन्न होकर उन्होने 'सन्मतिनाथ' नाम दिया। मगम नाम के देव ने भयकर सर्प का रूप धारण करके उस बालक की निर्भयता व वीरता की परीक्षा करके भक्ति से 'महावीर' नाम दिया। तीस वर्ष की कुमार वय मे तो उनको जाति स्मरण ज्ञान हुआ और ससार से विरक्त होकर के अगहन कृष्णा दशमी को वे स्वय दीक्षित हुए। उसको मुनिदशा मे उत्तम खीर से सबसे प्रथम आहार दान कुलपाक नगरी के कुल राजा ने दिया। उज्जैन नगरी के वन मे रुद्र ने उनके ऊपर घोर उपद्रव किया, परन्तु ये वीर मुनिराज निज ध्यान से किंचित भी न डिगे सो नही डिगे। इससे नम्रीभूत हो रुद्र ने स्तुति की व अतिवीर (महाति महावीर) ऐसा नाम रक्खा।

कौसाम्बी नगरी मे बन्धनग्रस्त सती चन्दन बाला को ये पाँच मगल नाम धारक प्रभू के दर्शन होते ही उनकी बेडी के बन्धन तुर्त टूट गये और उसने परम भक्ति से प्रभू को आहारदान दिया। साढे बारह वर्ष मुनि दशा मे रह करके, वैशाख शुक्ला दशमी के दिन सम्मेदशिखर जी तीर्थ से करीब १० मील पास मे जृम्भिक गाँव की ऋजुकूला सरिता के तीर पर क्षपक श्रेणी चढकर प्रभू ने केवलज्ञान प्रगट किया। वे अरहत भगवान राजगृही के विपुलाचल पर पधारे।

६६ दिन के बाद, श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से दिव्यध्वनि द्वारा धर्मामृत की वर्षा प्रारम्भ की; उसे झेलकर इन्द्र भूति गौतम आदि अनेक जीवो ने प्रतिबोध पाया। वीर नाथ की धर्म सभा मे ७०० तो केवली भगवत थे, सब मिलके १४००० मुनिगण व ३६००० अर्जिकाये थी। एक लाख श्रावक व तीन लाख श्राविकाये थी असख्य देव व सख्यात तिर्यंच थे। तीस वर्ष तक लाखो करोडो जीवो को प्रतिबोध के वीर प्रभू पावापुरी नगरी मे पधारे। वहा के उद्यान मे योग निरोध करके विराजमान हुए, व कार्तिक वदी अमावस्या के सुप्रभात मे परम सिद्धपद को प्रगट करके सिद्धालय मे जा विराजे, उस सिद्ध प्रभु को नमस्कार हो।

अर्हन्त सब ही कर्म के कर नाश इस ही रीति सो,
उपदेश भी उसका ही दे, सिद्धि गये नमू उनको ॥८२॥
श्रमणो जिनो तीर्थंकरो सब सेय एक ही मार्ग को,
सिद्धि गये, नमू उनको, निर्वाण के उस मार्ग को ॥१६६॥
(प्रवचनसार)

भगवान महावीर ने जब मोक्षगमन किया उस वक्त अमावस्या की अन्धेरी रात होने पर भी सर्वत्र एक चमत्कारिक दिव्य प्रकाश फैल गया था और तीनो लोक के जीवो को भगवान के मोक्ष का आनन्दकारी समाचार पहुच गया था। देवेन्द्रो व नरेन्द्रो ने भगवान की मुक्ति का बड़ा भारी उत्सव किया,अमावस की अन्धकारमय रात्रि करोडो दीपको से जगमगा उठी। करोडो दीपो की आवली से मनाया गया वह निर्वाणमहोत्सव दीपावलो पर्व के रूप मे भारत भर मे प्रसिद्ध हुआ। ईस्वी सन् से भी पूर्व ५२७ वर्ष पहले बना हुआ यह प्रसग आज भी हम सब आनन्द के साथ दीपावली पर्व के रूप मे आनन्द से मानते हैं। दीपावली यह भारतवर्ष का सर्व मान्य आनन्दकारी धार्मिक पर्व है।

ऐसे इस दीपावली पर्व के मगल प्रसग पर वीर प्रभु की आत्म साधना को याद करके हम भी उस वीरपथ पर चले एव आत्मा मे रत्नत्रय दीप जगाकर अपूर्व दीपावली पर्व मनावे यही भावना है।

जय महावीर—जय महावीर

—०—

(३३) आत्मस्वरूप की यथार्थ समझ सुलभ है

अपना आत्मस्वरूप समझना सुगम है, किन्तु अनादि से स्वरूप के अनाभ्यास के कारण कठिन मालूम होता है। यदि कोई यथार्थ रुचिपूर्वक समझना चाहे तो वह सरल है।

चाहे कितना चतुर कारीगर हो तथापि वह दो घडी मे मकान तैयार नही कर सकता, किन्तु यदि आत्मस्वरूप की पहचान करना चाहे तो वह दो घडी मे भी हो सकती है। आठ वर्ष का बालक एक मन का बोझ नही उठा सकता, किन्तु यथार्थ समझ के द्वारा आत्मा की प्रतीति करके केवल ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। आत्मा पर द्रव्य मे कोई परिवर्तन नही कर सकता, किन्तु स्व-द्रव्य मे पुरुपार्थ के द्वारा समस्त अज्ञान का नाश करके, सम्यक्ज्ञान को प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। स्व परिणमन मे आत्मा सम्पूर्ण स्वतन्त्र है, किन्तु पर मे कुछ भी करने के लिए आत्मा मे किंचित्मात्र सामर्थ्य नही है। आत्मा मे इतना अपार स्वाधीन पुरुपार्थ विद्यमान है कि यदि वह उल्टा चले तो दो घडी मे सातवे नरक जा सकता है और यदि सीधा चले तो दो घडी मे केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हो सकता है।

परमागम श्री समयसार जी मे कहा कि—'यदि यह आत्मा अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को पुद्गलद्रव्य से भिन्न दो घडी के लिये अनुभव करे (उनमे लीन हो जाय) परिपहो के आने पर भी न डिगे तो घातिया कर्मो का नाश करके केवलज्ञान को प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त हो जाय। आत्मानुभव की ऐसी महिमा है, तो मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का होना सुलभ ही है, इसलिए श्री परमगुरुओ ने इसी का उपदेश प्रधानता मे दिया है।'

श्री समयसार-प्रवचनो मे आत्मा की पहिचान करने के लिये बारम्बार प्रेरणा की गई है, यथा—

(१) चैतन्य के विलासरूप आनन्द को भीतर मे देख! अन्दर के उस आनन्द को देखते ही तू शरीरादि के मोह को तत्काल छोड सकेगा। 'झगिति' अर्थात् झट से छोड़ सकेगा। यह बात सरल है, क्योंकि यह तेरे स्वभाव की बात है।

(२) सातवें नरक की अनन्त वेदना मे पडे हुए जीवो ने भी आत्मानुभव प्राप्त किया है, यहाँ पर सातवे नरक जैसी तो पीडा नही

है न ? रे जीव ! मनुष्यभव प्राप्त करके रोना क्यो रोया करता है ? अब सत्समागम से आत्मा की पहिचान करके आत्मानुभव कर ! इस प्रकार समयसार प्रवचनो मे बारम्बार—हजारो वार आत्मानुभव करने की प्रेरणा की है। जैनशास्त्रो का ध्येय बिन्दु ही आत्मस्वरूप की पहिचान कराना है।

'अनुभवप्रकाश' ग्रन्थ मे आत्मानुभव की प्रेरणा करते हुए कहा है कि कोई यह जाने कि आज के समय मे स्वरूप की प्राप्ति कठिन है, तो समझना चाहिये कि वह स्वरूप की चाह को मिटाने वाला बहिरात्मा है ....! जब फुरसत होती है तब विकथा करने लगता है। उस समय यदि वह स्वरूप की चर्चा—अनुभव करे तो उसे कौन रोकता है ? यह कितने आश्चर्य की बात है कि वह पर परिणाम को तो सुगम और निज परिणाम को विषम समझता है। स्वय देखता है, जानता है तथापि यह कहते हुए लज्जा भी नही आती कि आत्मा देखा नही जाता . . ! जिसका जयगान भव्य जीव गाते हैं, जिसकी अपार महिमा को जानने से महा भव-भ्रमण दूर हो जाता है और परम आनन्द होता है ऐसा यह समयसार अविकार को (शुद्ध आत्म-स्वरूप) जान लेना चाहिये।

यह जीव अनादिकाल से अज्ञान के कारण परद्रव्य को अपना करने के लिए प्रयत्न कर रहा है और शरीरादि को अपना बनाकर रखना चाहता है, किन्तु पर द्रव्य का परिणमन जीव के अधीन नहीं हैं। इसलिये अनादि से जीव के (अज्ञानभाव) के फल मे एक परमाणु भी जीव का नही हुआ। अनादिकाल से देहदृष्टि पूर्वक शरीर को अपना मान रखा है किन्तु अभी तक एक भी रजकण न तो जीव का हुआ है और न होने वाला है, दोनो द्रव्य त्रिकाल भिन्न हैं। जीव यदि अपने स्वरूप को यथार्थ समझना चाहे तो वह पुरुषार्थ के द्वारा अल्पकाल मे समझ सकता है। जीव अपने स्वरूप को जब समझना चाहे तब समझ सकता है। स्वरूप के समझने मे अनन्तकाल नहीं

लगता और न दूसरो की आवश्यकता रहती, इसलिये यथार्थ समझ सुलभ है।

यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की रुचि के अभाव मे ही जीव अनादि-काल से अपने स्वरूप को नही समझ पाया, इसलिये आत्म स्वरूप समझने की रुचि करो और ज्ञान करो, ऐसा वीतरागी सन्तो का उपदेश है। [वस्तु विज्ञानसार से]

—०—

(३४) पाप का बाप कौन है।

(अनुवादक—पं० मक्खन लाल)

लोभ पाप का बाप बखाना ये सब सुनते आते हैं,
उसका एक अनूपम हम तुमको दृष्टान्त सुनाते है।
एक विप्र का पुत्र बनारस से पढि करि घर आया था,
चारो वेद पुराण अठारे कठ याद कर लाया था ॥१॥

तर्क छन्द व्याकरण कोष का पूरा पडित ज्ञानी था,
वैदिक ज्योतिष सामुद्रिक मे और न जिसकी शानी था।
एक दिना नारी यो बोली प्राणनाथ यहा आओ तो,
क्या-क्या पढिआये काशी से मुझको जरा सुनाओ तो ॥२॥

बोला तर्क छन्द व्याकरणादिक सब ही पढि आया हू,
हुआ परीक्षोत्तीर्ण सभी मे अब्वल नम्बर लाया हू।
कहा नारि ने ऐसे कहने से तो मैं नही मानूगी,
कौन पाप का बाप बताओ तब मैं पडित जानूंगी ॥३॥

लगे सिटपिटाने पडितजी ये तो पढा नही मैंने,
नही किसी ने मुझे सिखाया बात नई पूछी तैंने।

बोली नारि इसे पढि आओ तब पीछे घर मे आना,
पढा पाप का बाप न जिसने वो पडित किसने माना ।।४।।
सुनि नारी की बात चला ब्राह्मण पढने विद्यालय मे,
किन्तु मिला न पढाने वाला विद्यप्रदेश हिमालय मे।
शहर शहर और ग्राम ग्राम मे फिरता फिरता हारा है,
एक दिना एक बडी चतुर वेश्या ने इसे निहारा है ।।५।।
करि प्रणाम बोली वेश्या तुम कौन कहाँ से आये हो,
नौजवान सुन्दर खुबसूरत क्यो इतने घबराये हो।
सुनि वेश्या की बात विप्र ने सारा किस्सा बतलाया,
सब कुछ पढा न पढा पाप का बाप उसे पढने आया ।।६।।
बोली वेश्या ये पुस्तक है मेरे पास पढा दूंगी,
आओ मेरे चौबारे पर अभी तुम्हे समझा दूंगी।
तू वेश्या मैं ब्राह्मण होकर तेरे घर नही आऊँगा,
चाहै पढू न पढु किन्तु तुझसे शिक्षा नही पाऊँगा ।।७।।
नही नही आओ भगवन् सौ रुपये भेट चढाऊँगी,
तुम्हे पढाने से मैं पापिनि भी पवित्र हो जाऊँगी।
सुनत नाम सौ रुपये का ब्राह्मण को लालच आता है,
खट खट खट खट वेश्या के चौबारे पै चढि जाता है ।।८।।
ले अब मुझे पढा दे जल्दी बहुत समय न लगाऊँगा,
लेकरि सौ रुपये की थैली मैं अपने घर जाऊँगा।
अजी जरा कुछ खा तौ लो पीछे मै पाठ पढाऊँगी,
सौ रुपये क्या देहु तुम्हे ढाई सौ भेटि चढाऊँगी ।।९।।
हाय हाय रडी के घर क्या मैं खाने को खाऊँगा,
धर्म कर्म सब बिगडि जाय दुनियाँ मे भ्रष्ट कहाऊँगा।
बोली वेश्या डरौ नही सूखा सामान मगा दूंगी,
आप बनाकर पहले खालो तब मैं पीछे खाऊँगी ।।१०।।

ढाई सौ का नाम सुनत लालच की झोली खोली है,
विप्र बनाने लगा रसोई तब वेश्या यो बोली है।
क्यो करते हो कष्ट हाय करि मै हि रसोई बनादूंगी,
मैं हो जाउँ पवित्र आज रुपये पांच सौ चढादूंगी ॥११॥
ज्ञान नैन फूटे उर के तृष्णा अवियारी छाई है,
करि लीनी स्वीकार रसोई वेश्या ने बनवाई है।
खाने को बैठा ब्राह्मण वेश्या ने परसी थाली है,
भरि करि एक हजार रुपये की थैली आगे डाली है ॥१२॥
बोली वेश्या हाथ जोडिकरि एक वचन दे देना जी,
मेरे कर से एक ग्रास अपने मुंह मे ले लेना जी।
कौन पाप का बाप आपको जब ये सबक पढाऊँगी,
तब हजार की थैली मै चरणो मे भेटि चढाउँगी ॥१३॥
देखि थैलिया ब्राह्मण की हो गई भ्रष्ट मति मैली है,
कौन देखता है मुझको ले जाऊँ घर को थैली है।
ग्रास उठाया वैश्या ने तब पडित जी मुंह बाया है,
दे टुकडा वेश्या ने मुंह पे चाटा एक जमाया है ॥१४॥
बोला विप्र अरी वेश्या मेरे थप्पड क्यो मारा है,
लोभ पाप का बाप पढौ ये ही तो सबक तुम्हारा है।
धन के लालच मे फँसिकरि खाया ते रडी का टुकडा,
यही पाप का बाप 'लोभ' जो देता दुनियाँ को दुखडा ॥१५॥
भैय्या लज्जित होय विप्र निज आपे को धिक्कारे है,
हाय हाय यह लोभ पाप का बाप नर्क मे डारे है ॥

—०—

(३५) साधु ने दुनिया को झूठा दिखला दिया

(पं० मक्खनलाल)

एक पुरुष के सात पुत्र थे छ कुछ नही कमाते थे,
एक पुत्र धन लाता था तो सब घर वाले खाते थे।

डाके जनी चोरियाँ वेईमानी से धन ठगता था,
इसीलिये ये सारे घर वालो को प्यारा लगता था ॥१॥
जेबें कतरि सैकडो रुपये लाकर घर मे धरता था,
मात पिता भाई भावज सारा घर आदर करता था।
पुण्योदय से लडके के इक शब्द कान मे आता है,
श्रवण सुखद उपदेश भरा सुनने को वाहर जाता है ॥२॥
गली गली गाता फिरता था साधू एक महा गुनिया,
झूठी है दुनिया रे बाबा झूठी है सारी दुनिया।
झूठे मात पिता सुत भाई झूठी है नातेदारी,
झूठा है सब कुटम कबीला झूठी है प्यारी नारी ॥३॥
हो प्रसन्न लडके ने पूछा बाबा जी क्या गाते हो,
झूठी है दुनिया झूठी ये क्या उपदेश सुनाते हो।
मेरे सुख मे सुखी सभी जन दुख मे दुखिया होते हैं,
मेरे हँसने पर सब हँसते रोने पर रो देते हैं ॥४॥
मुझे खिलाकर खाते है सब मुझे सुलाकर सोते हैं,
मैं स्नान करू तो भाई पाँव आनकर धोते है।
भावी भोजन लाती है तो नारी नीर पिलाती है,
देते पिता असीस मात करि करि के हवा सुलाती है ॥५॥
तुम कहते हो दुनिया झूठी मैं कैसे ये मानूंगा,
झूठी मुझे दिखादो तो मैं तुमको सच्चा जानूंगा।
बोले साधू रे बच्चे तू जाकर के घर सो जाना,
खाना पीना छोड़ खाट पर पड मुर्दा सा हो जाना ॥६॥
आँख मीचकर बोल बन्द कर साँस घोटकर पड जाना,
कोई कितना उलटे पलटे पर तू खूब अकड जाना।
भरना तू ये साग रात भर प्रात होत मैं आऊँगा,
तब तुझको दुनिया है झूठी ये करके दिखलाऊँगा ॥७॥

सुन साधू की बात युवक घर वालो के अजमाने को,
वनकर के बीमार खाट पर पडा न खाया खाने को।
अरे मरा रे मरा पेट मे दर्द वडा सर फटता है,
हाथ पाव टूटे छाती मे धड़कन सास अटकता है ॥८॥
यो कह सास घोट चुपका हो पडा मृतक सा वन करके,
मरा जानि सारे घर वाले रोते हैं सर धुनि धुनि के।
माता पिता रोते तेरे बिन हमको कौन खवावेगा,
भावी रोती देवर तुम बिन कौन साडियाँ लावेगा ॥९॥
भैया रोते हैं भैया तुम ही तो एक कमाऊ थे,
हम सब तो घर वाले तेरे पीछे खाऊ थे।
रोती नारी नाथ तुम विन अब जेवर कौन घढावेगा,
विना तुम्हारे मुझ दुखिया को घर मे को अपनावेगा ॥१०॥
अरे मरे हम हाय मरे हम यो कह रुदन मचाते है,
उसी समय वे साधु वहाँ पर वैद्यराज वनि आते हैं।
कोई इलाज करा लो हम से फीस नही हम लेते हैं,
एक खुराक दवा से मुर्दे को जिन्दा कर देते हैं ॥११॥
पडा शब्द कानो मे इनके तुरन्त दौडकर आते हैं,
वडी विनय से वैद्यराज को अपने घर ले जाते हैं।
हे हकीम जी या तो इस मुद को शीघ्र जिला दीजे,
वरना हम मर जाय सभी हलाहल जहर पिला दीजे ॥१२॥
अच्छा कहकर वैद्यराज ने क्या तरकीव निकाली है,
लोटा एक मगाकर पानी राख जरा सी डाली है।
जो इस लोटे का पानी पीले वो तो मर जावेगा,
किन्तु अभी सब के आगे मुर्दा जिन्दा हो जावेगा ॥१३॥
छक्के छूट गये सबके सुन वैद्यराज की वानी को,
हुये सभी चित्राम सरीखे कोई न पीवे पानी का।

छहौ भ्रात से कहा वैद्य ने जो पानी पी जायेगा,
वो तुरन्त मरजाय किन्तु भ्राता जिन्दा हो जायेगा ॥१४॥
सूख गए सुन प्राण छहो के हमसे मरा नही जाता,
हम न पियेंगे हरगिज पानी चाहे मरो जियो भ्राता।
इसी प्रकार भावजे भी नट गईं छहो जल पीने से,
हम क्यो खोवे प्राण फायदा क्या देवर के जीने से ॥१५॥
अब बारी नारी की आई आई तू मरजा जल पीकर के,
पति बिना तू राड अकेली कहा करेगी जी करके।
बोली नारि राड रहकर के ही मै समय बिताऊँगी,
पति मरै या जिये मुझे क्या जब मै ही मर जाऊँगी ॥१६॥
माता पिता से कहा वैद्य ने तुमको सुत अति प्यारा है,
तुम्ही मरो अब पीकर पानी जीवे पुत्र तुम्हारा है।
बहुत जमाना देख लिया अब कहा करोगे जी करके,
किन्तु साफ नट गये वैद्य जी हम न मरे जल पीकर के ॥१७॥
एक पुत्र मरता है तो मर जाने दो न हमे कुछ गम,
छै बेटो को देख-देखकर जी राजी कर लेगे हम।
बोले वैद्य हमी जल पीकर मर जाये तो राजी हो
हाँ हाँ हाँ हाँ कहा सभी ने तुम अच्छे बाबा जी हो ॥१८॥
मुस्कराय कर बाबा जी ने हाथ पुत्र पर फेरा है,
उठकर देख अरे लडके अब को दुनिया मे तेरा है।
उठ कर बैठ गया लडका घर वालो को धिक्कारा है,
सभी मतलबी हो घर वाले झूठा प्यार तुम्हारा है ॥१९॥
झूठी दुनियाँ दिखलाकर के साधु तो जाते हैं,
लडका भी हो लिया साथ तब घर वाले पछताते है।
ये दृष्टान्त सभी ससारी जन को ये सिखलाता है,
भैय्या सब सुख के साथी दुख मे कोई काम न आता है ॥२०॥

भजन संग्रह

१. ज्ञान दर्पण

चेतन क्यो पर अपनाता है, आनन्दघन तू खुद ज्ञाता है ।।टेक।।
ज्ञाता क्यो करता बनता है, खुद क्रमबद्ध सहज पटलता है ।
सब अपनी धुन मे धुनता है, तब कौन जगत मे सुनता है ।।१।।
उठ चेत जरा क्यो सोता है, फिर देख ज्ञान क्या होता है ।
क्यो पर का बोझा ढोता है, क्यो जीवन अपना खोता है ।।२।।
पर का तू करता बनता है, कर तो कुछ भी नही सकता है ।
यह विश्व नियम से चलता है, इसमे नही किसी का चलता है ।३।
जो परका असर मानता है, वह धोखा निश्चय खाता है ।
जब जबरन का विष जाता है, तब सहज समझ मे आता है ।।४।।
जो द्रव्य द्वारे आता है, वह जीवन ज्योति जगाता है ।
सुखधाम चिन्तामणिज्ञाता है, आनन्द अनुभव नित पाता है ।।५।।

२. चेतावनी

स्वत' परिणमति वस्तु के, क्यो करता बनते जाते हो ।
कुछ समझ नही आती तुमको, नि सत्व बने ही जाते हो ।।१।।
अरे कौन निकम्मा जग मे है, जो पर का करने जाता हो ।
सब अपने अन्दर रमते है, तब किस विघ करण रचाते हो ।।२।।
वस्तु की मालिक वस्तु है, जो मालिक है वही कर्त्ता है ।
फिर मालिक के मालिक बनकर, क्यो नीति न्याय गमाते हो ।।३।।
सत् सब स्वय परिणमता है, वह नही किसी की सुनता है ।
यह माने बिन कल्याण नहीं, कोई कैसे ही कुछ कहता हो ।।४।।

३. द्यानतराय

हम ना किसी के कोई ना हमारा, झूठा है जग का व्यवहारा ।
तन सबध सकल परिवारा, सो तन हमने जाना न्यारा ।।१।।

पुण्य उदय सुख की बढवारा, पाप उदय दुख होत अपारा।
पुण्य-पाप दोऊ ससारा, मैं सब देखन जाननहारा ॥२॥
मे तिहुँ जग तिहुँ काल अकेला, पर सजोग भया भव मेला।
थितिपूरी कर खिर-खिर जाहि, मेरे हर्ष शोक कछु नाहि ॥३॥
रागभावतें सज्जन जाने, द्वेष भावतें दुर्जन मानें।
राग-द्वेष द्वोऊ मम नाहि, द्यानत मै चेतन पद माहि ॥४॥

४. कीर्तन

हू स्वतंत्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता दृष्टा आतम राम।
मैं वह हू जो है भगवान, जो मैं हू वह है भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहाँ राग वितान ॥१॥
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आश वश खोया ज्ञान, बना भिकारी निपट अजान ॥२॥
सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुख की खान।
निजको निज पर को पर जान, फिर दुख का नही लेश निदान ॥३॥
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्याग पहुँचूं निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम ॥४॥
होता स्वय जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, ज्ञायकभाव लखूं अभिराम ॥५॥

५. बुधजन

हमको कछु भय ना रे, जान लियो ससार ॥टेक॥
जो निगोद मे सो ही मुझमे, सो ही मोक्ष मझार।
निश्चयभेद कछू भी नाही, भेद गिनै ससार ॥१॥
परवश ह्वै आपा विसारि के, राग दोष को धार।
जीवत मरत अनादि काल तै, यौं ही है उरझार ॥२॥
जाकरि जैसे जाहि समय मे, जे होता जा द्वार।
सो वनि है टरि है कछु नाहि, करि लीनो निरधार ॥३॥
अगनि जरावै पानी बोवै, विछुरत मिलत अपार,
सो पुद्गल रूपी-मैं बुधजन सबको जानन हार ॥४॥

६. भैया

जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे,
विन देख्यो होसो नही क्यो ही काहे होत अधीरा रे ॥१॥
समयो अेक वढै नहि घटसी, जो सुख दुख की पीरा रे,
तू क्यो सोच करै मन कूडो, होय वज्र ज्यो हीरा रे ॥२॥
लगै न तीर कमान वान कहू, मार सके नहिं मीरा रे,
तूं सम्हारि पौरुष-बल अपनो, सुख अनन्त तो तीरा रे ॥३॥
निश्चय ध्यान धरहु वा प्रभु, को जो टारे भव की भीरा रे,
"भैया" चेत धरम निज अपनो, जो तारे भवनीरा रे ॥४॥

७ दौलतराम

अरे जिया ! जग धोखे की टाटी ॥टेक॥
झूठा उद्यम लोग करत है, जिनमे निशदिन घाटी ॥१॥
जान वूझ कर अन्ध वने है, आखिन वांधी पाटी ॥२॥
निकल जाँयगे प्राण छिनक मे, पडी रहैगी माटी ॥३॥
'दौलतराम' समझ मन अपने दिल की खोल कपाटी ॥४॥

८. द्यानतराय

अव हम आतम को पहचाना जी ॥टेक॥
जैसा सिद्ध क्षेत्र मे राजत, तैसा घट मे जाना जी ॥१॥
देहादिक पर द्रव्य न मेरे, मेरा चेतन वाना जी ॥२॥
'द्यानत' जो जाने सो स्याना, नहिं जाने सो दिवाना जी ॥३॥

९ दौलतराम

हम तो कबहु न निज घर आये ।
पर घर फिरत वहुत दिन वीते, नाम अनेक धराये ॥टेक॥
पर पद निजपद मान मगन ह्वै, पर परिणति लिपटाये ।
शुद्ध बुद्ध सुखकन्द मनोहर, चेतनभाव न भाये ॥१॥
नर पशु देव नरक निज जान्यो, परजय बुद्धि लहाये ।
अमल अखड अतुल अविनाशी, आतम गुण नहिं गाये ॥२॥

यह बहु भूल भई हमरी, फिर कहा काज पछिताये ।
'दौल' तजौ अजहू विषयन को, सत् गुरु वचन सुहाये ॥३॥

१०. भागचन्द्र

जीवन के परिनामनिकी यह, अति विचित्रता देखहुज्ञानी ॥टेक॥
नित्य निगोदमांहितै कढिकर, नर परजाय पाय सुखदानी ।
समकित लहि अतर्मुहूर्तमे, केवल पाय वरै शिवरानी ॥१॥
मुनि एकादश गुणथानक चढि, गिरत तहांतें चित भ्रमठानी ।
भ्रमत अर्धपुद्गल परिवर्तन, किंचित् ऊन काल परमानी ॥२॥
निज परिनामनिकी सभाल मे, तातै गाफिल ह्वै मत प्रानी ।
बंध मोक्ष परिनामनिहीसो, कहत सदा श्रीजिनवरवानी ॥३॥
सकल उपाधिनिमित भावनिसो, भिन्नसुनिज परनतिको छानी ।
ताहि जानि रुचि ठानहोहु थिर, 'भागचद' यह सीख सयानी ॥४॥

११. दौलतराम

आतम रूप अनुपम अद्भुत, याहि लखै भवसिंधु तरो ।टेक।
अल्पकाल मे भरत चक्रधर, निज आतम को ध्याय खरो ।
केवलज्ञान पाय भवि बोधे, ततछिन पायो लोक शिरो ॥१॥
या विन समझे द्रव्य लिंग मुनि, उग्र तपन कर भार भरो ।
नवग्रीवक पर्यन्त जाय चिर, फेर भवार्णव माहि परो ॥२॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन तप, येहि जगत मे सार नरो ।
पूरव शिवको गये जाहि अब, फिर जै है यह नियत करो ॥३॥
कोटि ग्रन्थ को सार यही है, ये ही जिनवानी उचरो ।
'दौल' ध्याय अपने आतम को, मुक्तरमा तव वेग वरो ॥४॥

१२. भागचन्द

आतम अनुभव आवै जब निज, आतम अनुभव आवै ।
और कछू न सुहावै, जब निज आतम अनुभव आवै ॥टेक॥
रस नीरस हो जात ततच्छिन, अक्ष विषय नहिं भावै ॥१॥

गोष्टी कथा कुतूहल विघटै, पुद्गल प्रीति नसावै।
राग दोष जुग चपल पक्षजुत, मन पक्षी मर जा ॥२॥
ज्ञानानन्द सुधारस उमगै, घट अन्तर न समावै।
'भागचन्द' ऐसे अनुभव के, हाथ जोरि सिर नावै ॥३॥

१३. भागचन्द

धन्य धन्य है घडी आजकी, जिनधुनि श्रवन परी।
तत्व प्रतीति भई अब मेरे, मिथ्यादृष्टि टरी ॥टेक॥
जडतें भिन्न लखी चिन्मूरत, चेतन स्वरस भरी।
अहकार ममकार वुद्धि पुनि, परमे सब परिहरी ॥१॥
पाप पुन्य विधि बंध अवस्था, भासी अति दुख भरी।
वीतराग विज्ञानभावमय, परिनति अति विस्तरी ॥२॥
चाह-दाह विनसी वरसीं पुनि, समता मेघझरी।
बाढी प्रीति निराकुल पदसो, 'भागचन्द' हमरी ॥३॥

१४. दौलतराम

आपा नहि जाना तूने, कैसा ज्ञानधारी रे ॥टेक॥
देहाश्रित करि क्रिया आपको, मानत शिवमगचारी रे ॥१॥
निज-निवेद विन गोर परीपह, विफल कही जिनसारी रे ॥२॥
शिव चाहे तो द्विविधकर्म तैं, कर निजपरनति न्यारी रे ॥३॥
'दौलत' जिन निजभावपिछान्यौ, तिन भवविपत विढारी रे ॥४॥

१५. दौलतराम

चिन्मूरत दृग्धारीकी मोहि, रीति लगत है अटापटी ॥टेक॥
बाहिर नारकिकृत दुख भोगै, अन्तर सुखरस गटागटी।
रमत अनेक सुरनि सग पै तिस, परनतितैं नित हटाहटी ॥१॥
ज्ञानविराग शक्तितै विधिफल, भोगत पै विधि घटाघटी।
सदननिवासी तदपि उदासी, तातै आस्रव छटाछटी ॥२॥
जे भवहेतु अबुधके ते तस, करत बन्धकी झटाझटी।
नारक पशू तिय षढ विकलत्रय, प्रकृतिनकी ह्वै कटाकटी ॥३॥

सयम धर न सकै पै सयम, धारन की उर चटाचटी।
तासु सुयश गुनकी 'दौलत' के, लगी रहै नित रटारटी ॥४॥

१६. न्यामत

आप मे जब तक कि कोई आपको पाता नही।
मोक्षके मन्दिर तलक हरगिज कदम जाता नही ।टेक।
वेद या पुराण या कुरान सब पढ लीजिये।
आपके जाने बिना मुक्ति कभी पाता नही ॥१॥
हरिण खुशबू के लिये दौडा फिरे जगल के बीच।
अपनी नाभी मे बसे उसको नजर आता नही ॥२॥
भाव-करुणा कीजिये ये ही धरम का मूल है।
जो सतावे और को वह सुख कभी पाता नही ॥३॥
ज्ञानपै 'न्यामत' तेरे है मोह का परदा पडा।
इसलिये निज आतमा तुझको नजर आता नही ॥४॥

१७. न्यामत

समकित-बिन फल नही पावोगे,
नही पावोगे पछितावोगे ॥टेक ॥

चाहे निर्जन तप करिए, बिन समता दुख दाहोगे ॥१॥
मिथ्या मारग निश दिन सेवो, कैसे मुक्ती पावोगे ॥२॥
पत्थर नाव समन्दर गहरा, कैसे पार लघावोगे ॥३॥
झूठे देव गुरु तज दीजे, नही आखिर पछतावोगे ॥४॥
न्यामत' स्यादवाद मन लावो,यासे मुक्ती पावोगे ॥५॥

१८. शिवराम

समझ मन वावरे, सब स्वारथ का ससार ॥टेक॥
हरे वृक्ष पर तोता बैठा, करता मोज वहारी।
सूखा तरुवर उड गया तोता, छिन मे प्रीति विसारी ॥१॥

ताल पाल पर किया वसेरा, निर्मल नीर निहारा।
लखा सरोवर सूखा जब ही, पखी पख पसारा ॥२॥
पिता पुत्र सब लागे प्यारे, जब लो करे कमाई।
जो नही द्रव्य कमाकर लावे, दुश्मन देत दिखाई ॥३॥
जब लग स्वारथ सधत है जासे,तब लग तासो प्रीति।
स्वारथ भये बात न बूझे, यही जगत की रीति ॥४॥
अपने अपने सुख को रोवे, मात पिता सुत नारी।
घरे ढके की बूझन लागे, अन्त समय की वारी ॥५॥
सभी सगे शिवराम गरज के,तुम भी स्वारथ साधो।
नर तन मित्र मिला है तुमको, आतम हित आराधो ॥६॥

१९. भागचन्द

परिनति सब जीवनकी तीन भाँति बरनी।
एक पुण्य एक पाप, एक राग हरनी ॥टेक॥
तामे शुभ अशुभ अघ, दोय करें कर्म बध।
वीतराग परिनति ही, भवसमुद्र तरनी ॥१॥
जावत शुद्धोपयोग, पावत नाही मनोग।
तावत ही करन जोग, कही पुण्य करनी ॥ २ ॥
त्याग शुभ क्रिया कलाप, करो मत कदाच पाप।
शुभ मे न मगन होय, शुद्धता न विसरनी ॥३॥
ऊँच ऊँच दशा धारि, चित प्रमादको विडारि।
ऊँचली दशाते मति, गिरो अधो धरनी ॥ ४ ॥
'भागचन्द' या प्रकार, जीव लहै सुख अपार।
याके निरधार स्याद्—वाद की उचरनी ॥ ५ ॥

२०. भागचन्द

जीव तू ! भ्रमत सदीव अकेला, सग साथी कोई नहि तेरा ।टेक।
अपना सुख दुख आपहि भुगतै, होय कुटुम्ब न भेला।
स्वार्थ भयें सब विछुर जात हैं, विघट जात ज्यो मेला ॥१॥

रक्षक कोई न पूरन ह्वै जव, आयु अन्त की वेला।
फुटत पारि बधत नहि जैस, दुद्धर जल को ठेला ॥ २ ॥
तन धन जोवन विनशि जात ज्यो, इन्द्रजाल का खेला।
'भागचन्द' इमि लखि कर भाई, हो सतगुरु का चेला ॥ ३ ॥

२१. वीर भगवान

सब मिलके आज जय कहो, श्री वीर प्रभु की।
मस्तक झुका के जय कहो, श्री वीर प्रभु की ॥१॥
विघ्नो का नाश होता है, लेने के नाम से।
माला सदा जपते रहो, श्री वीर प्रभु की ॥२॥
ज्ञानी वनो दानी बनो, बलवान भी वनो।
अकलक सम बन जय कहो, श्री वीर प्रभु की ॥३॥
होकर स्वतत्र धर्म की, रक्षा सदा करो।
निर्भय बनो अरु जय कहो, श्री वीर प्रभु की ॥४॥
तुमको भी अगर मोक्ष की, इच्छा हुई है दास।
उस वाणी पर श्रद्धा करो, श्री वीर प्रभु की ॥५॥

२२ वस्तु स्वभाव

वस्तु स्वभाव समझ नही पाता, कर्त्ता धरता बन जाता।
स्व को भुलकर पर अपनाता, मिथ्यापन का यह नाता ॥१॥
सहज स्वभाव समझ मे आता, करना धरना मिट जाता।
स्व सो स्व और पर सो पर है, सम्यक्‌पन का यह नाता ॥२॥
रोके रुकता लाये आता, धक्के से जाता है कौन।
अपनी अपनी सहज गुफा मे, सभी द्रव्य है पर से मौन ॥३॥

२३. भागचन्द

सत निरन्तर चिन्तन ऐसे, आतम रूप अबाधित ज्ञानी ॥टेक॥
रागादिक तो देहाश्रित हैं, इनतें होत न मेरी हानि।
दहन दहत जिमि सदन न तद्‌गत, गगन दहन ताकी विधिठानी ॥१॥

वरणादिक विकार पुद्गल के, इनमे नहि चैतन्य-निशानी।
यद्यपि एक क्षेत्र अवगाही, तद्यपि लक्षण भिन्न पिछानी ॥२॥
मैं सर्वांग पूर्ण ज्ञायक रस, लवण खिल्लवत लीला ठानो।
मिलो निराकुलस्वाद न यावत, तावत परपरणतिहितमानी ॥३॥
भागचन्द निरद्वन्द निरामय, मूरति निश्चय सिद्ध समानी।
नित अकलंक अवंकसक बिन, निर्मल पंक बिना जिमि पानी ॥४॥

२४. कीर्तन

मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ, मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ ॥टेक॥
मैं हूँ अपने मे स्वयं पूर्ण, परकी मुझमे कुछ गन्ध नही।
मैं अरस अरूपी अस्पर्शी, परसे कुछ भी सम्बन्ध नही ॥१॥
मैं राग-रंग से भिन्न भेद से, भी मैं भिन्न निराला हू।
मैं हूँ अखन्ड चैतन्य पिण्ड, निज रस मे रमने वाला हू ॥२॥
मैं ही मेरा कर्त्ता धर्ता, मुझ मे पर का कुछ काम नहीं।
मैं मुझ ने रमने वाला हू, पर मैं मेरा विश्राम नही ॥३॥
मैं शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध एक, पर परणति से अप्रभावी हू।
आत्मानुभूति से प्राप्त तत्व, मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हू ॥४॥

२५.

नाथ तुम्हारी पूजा मे सब स्वाहा करने आया।
तुम जैसा बनने के कारण, शरण तुम्हारी आया ॥टेक॥
पंच इन्द्रिय का लक्ष्य करूँ, मैं इस अग्नि मे स्वाहा।
इन्द्र नरेन्द्रो के वैभव की, चाह करूँ मैं स्वाहा।
तेरी साक्षी से अनुपम, मैं यज्ञ रचाने आया ॥१॥
जग की मान प्रतिष्ठा को भी, करना मुझको स्वाहा।
नही मूल्य इस मन्द भाव का, व्रत तप आदि स्वाहा।
वीतराग के पथ पर चलने, प्रण लेकर मैं आया ॥२॥
करे जग के अपशब्दो को, करना मुझको स्वाहा।
परलक्षी सब ही वृत्ती को, करना मुझको स्वाहा।
अक्षय निरंकुश पद पाने, और पुण्य लुटाने आया ॥३॥

तुमतो पूज्य पुजारी मैं, यह भेद करूंगा स्वाहा ।
बस अभेद मैं तन्मय होना, और सभी कुछ स्वाहा ।
अब पामर भगवान बने, ये भीख मागने आया ॥४॥
नाथ तुम्हारी पूजा मे सब, स्वाहा करने आया ।
तुम जैसा बनने के कारण, शरण तुम्हारी आया ॥५॥

२६. केवलचन्द

धर्म बिना बावरे तूने मानव रतन गँवाया ॥टेक॥
कभी न कीना आत्म निरीक्षण कभी न निज गुण गया ।
पर परणति से प्रीती बढाकर काल अनन्त बढाया ॥१॥
यह ससार पुण्य—पापो का पुण्य देख ललचाया ।
दो हजार सागर के पीछे काम नही यह आया ॥२॥
यह ससार भव समुद्र है बन विषयो हरषाया ।
ज्ञानी जन तो पार उतर गये मूरख रुदन मचाया ॥३॥
यह ससार ज्ञेय द्रव्य है आत्म ज्ञायक गाया ।
कर्ता बुद्धि छोड दे चेतन नही तो फिर पछताया ॥४॥
यह ससार दृष्टि की माया अपना कर अपनाया ।
"केवल" दृष्टि सम्यक् करले कहान गुरु समझाया ॥५॥

२७. द्यानतराय

धिक ! धिक ! जीवन सम्यक्त्व बिना ॥टेक॥
दान-शील-तप-व्रत-श्रुतपूजा, आतमहेतु न एक गिना ॥१॥
ज्यो बिन, कन्त कामिनी शोभा, अबुज बिनसर ज्यो सूना ।
जैसे बिना एकडे बिन्दी, त्यो समकित बिन सरव गुना ॥२॥
जैसे भूप बिना सब सेना, नीव बिना मदिर चुनना ।
जैसे चन्द विहूनी रजनी, इन्हे आदि जानो निपुना ॥३॥
देव जिनेन्द्र, साधु गुरु करुना, धर्म राग व्योहार भना ।
निहचै देव धरम गुरु आतम, 'द्यानत' गहि मन वचन तन ॥४॥

२८

मेरे मन मन्दिर मे आन पधारो सीमधर भगवान ॥टेक॥
भगवन तुम आनन्द समोवर, रूप तुम्हारा महा मनोहर।
निशदिन रहे तुम्हारा ध्यान, पधारो सीमन्धर भगवान ॥१॥
सुर किन्नर गणधर गुण गाते, योगी तेरा ध्यान लगाते।
गाते प्रभु तेरा यश गान, पधारो सीमन्धर भगवान ॥२॥
जो तेरी शरणागत आया, तूने उसको पार लगाया।
तुम हो दयानिधि भगवान, पधारो सीमधर भगवान ॥३॥
भक्तजनो के कष्ट निवारे, आप तिरे हमको भी तारे।
कीजे हमको आप समान, पधारो सीमधर भगवान ॥४॥
आये हैं अब शरण तिहारी, पूजा हो स्वीकार हमारी।
तुम हो करुणा-दयानिधान, पधारो सीमंधर भगवान ॥५॥
रोम-रोम पर तेज तुम्हारा, भू-मण्डल तुमसे उजियारा।
रवि-शशि तुम से ज्योतिमान, पधारो सीमन्धर भगवान ॥६॥

२९. तर्ज-तुम से लागी लगन•••

मेरे चैतन्य घन, नित्य निज मे मगन, प्यारे आतम
भूल तुम क्यो भटकते निजातम ॥टेक॥
ज्ञान दर्शन है लक्षण तुम्हारा, जानना देखना काम प्यारा।
शुद्ध ज्ञाता प्रभो, शुद्ध दृष्टा विभो, प्यारे आतम,
भूल तुम क्यो भटकते निजातम ॥१॥
सर्व गतियो को पाउन सेन्यारे,सब विभावो को कर करके टारे।
ज्ञान से सर्वगत, पर मे किंचित न रत, प्यारे आतम
भूल तुम क्यो भटकते निजातम ॥२॥
पक्ष-व्यवहार से तुम अज्ञानी, पर न रहते सदा ही कुज्ञानी।
सिद्ध सम हो सदा, जड न होगे कदा, प्यारे आतम
भूल तुम क्यो भटकते निजातम ॥३॥

ज्ञान हो ज्ञान मे नित्य रहते, शुद्ध ज्ञायक हो निज मे विचरते ।
पर से मिलते नही, पर को छूते नही, प्यारे आतम
भूल तुम क्यो भटकते निजातम ॥४॥
जग मे जीवात्मा तुम कहाते, होके परमात्मा भी सुहाते ।
सोचो समझो सुधी, हो रहे क्यो कुधी, प्यारे आतम
भूल तुम क्यो भटकते निजातम ॥५॥
मोक्ष जिस-जिसने शीतल है पाया, हेतु शाश्वत शरण तू कहाया ।
मेरे आनन्दघन, हे निराकुल सदन, प्यारे आतम
भूल तुम क्यो भटकते निजातम ॥६॥

३०

आशाओ का हुआ खातमा, दिली तमन्ना धरी रही ।
बस परदेशी हुआ रवाना, प्यारी काया पडी रही ॥टेक॥
करना-करना आठो पहर ही, मूरख कूक लगाता है
मरना-मरना मुझे कभी नही, लफ्ज जबाँ पर लाता है ॥
पर सब ही मरने वाले है, झडी न किसी की खडी रही ॥१॥
एक पडित जी पत्रिका लेकर, गणित हिसाब लगाते थे ।
समय काल तेजी मदी की, होनहार बतलाते थे ॥
आया काल चले पडितजी, पत्री कर मे धरी रही ॥२॥
एक वकील आफिस मे बैठे, सोच रहे यो अपने दिल ।
फला दफा पर बहस करूँगा, पाइट मेरा बडा प्रबल ॥
इधर कटा वारट मौत का, कल की पेशी पडी रही ॥३॥
एक साहब बैठे दुकान पर, जमा खर्च खुद जोड रहे ।
इतना लेना इतना देना, बडे गौर से खोज रहे ॥
काल बली की लगी चोट, जब कलम कान मे टकी रही ॥४॥
इलाज करने को इक राजा का, डाक्टर जी तैयार हुए ।
विविध दवा औजार साथ ले, मोटर कार सवार हुए ॥
आया वक्त उलट गई मोटर, दवा बोक्स मे भरी रही ॥५॥

जैंटिलमैन घूमने को एक, वक्त शाम को जाता था।
पाच चार थे दोस्त साथ मे, वातें वडी वनाता था॥
लगी जो ठोकर गिरे वावूजी, लगी हाथ मे घडी रही ॥५॥
हाँ-हाँ कितना क्या करूँ मैं, इस दुनिया की अजव गति।
भैया आना और जाना है, फर्क नही है एक रति॥
सम्यक्त्व प्राप्त किया है जिसने, बस उसकी ही खरी रही ॥६॥

३१ तर्ज-दिल लूटने वाले…

आतम नगर मे ज्ञान ही गगा, जिसमे अमृत वासा है।
सम्यक्दृष्टि भर भर पीवे, मिथ्यादृष्टि प्यासा है ॥टेक॥
सम्यक्दृष्टि समता जल मे नित ही गोते खाता है।
मिथ्यादृष्टि राग द्वेष की, आग मे झुलसा जाता है॥
समता जल का सिचन कर ले, जो सुख शान्ति प्रदाता है ॥१॥
पुण्य भाव को धर्म मानकर, के ससार वढाता है।
राग बन्ध की गुत्थी को यह, कभी न सुलझा पाता है॥
जो शुभ फल मे तन्मय होता, वह निगोद को जाता है ॥२॥
पर मे अहकार तू करता, पर का स्वामी वनता है।
इसीलिये ससार बढाकर, भव सागर मे रूलता है॥
एक बार निज आतमरस का, पान करना हे ज्ञाता है ॥३॥
क्रोध मान माया छलनी, नित प्रति ही तुझको ठगती हैं।
मिथ्या रूपी चोर लुटेरो ने, आतमनिधि लूटी है॥
जगा रही अध्यातम वाणी, अरू जिनवाणी माता है ॥४॥
मानुष अब दुर्लभ ये पाकर, आतम ज्योति जगानी है।
ज्ञान उजेले मे आ करके, अपनी निधि उठानी है॥
है तू शुद्ध निरजन चेतन, शिव रमणी का वासा है ॥५॥
जिसने अपने को नही जाना, पर को अपना माना है।
मैं मैं करता चला आ रहा, दुख पर दुख ही पाना है॥
दया आतम पर करो सहज ही, अजर अमर तू ज्ञाता है ॥६॥

३२.

उठ मूरख रूदन मचाया, सपने मे राजपद पाया ॥टेक॥
एक ईंट सिरहाने रख कर, सोय गया पृथ्वी पर पडकर।
मुदे चैन से नैन स्वपन मे देखी अद्भूत माया, सपने मे ॥१॥
देखा एक शहर अति भारी, कोट किला और महल अटारी।
प्रजा वहाँ की मिलकर सारी, इसको नृपत बनाया, सपने मे ॥२॥
बैठ तख्त पर हुक्म करे अब, आज्ञा माने सारे भूपत।
छत्र चँवर सिर दुरे देख, तब नृप हर्षाया, सपने मे ॥३॥
वरी नार सुन्दर सुखदायी, चक्रवत सब सम्पत्ति पाई।
भोगत भोग अनेक चैन मे, लाखो वर्ष गँवाया सपने मे···॥४॥
एक दिन राजसभा मे बैठे, दे मुख ताव मूंछ को ऐंठे।
इतने मे कोई राहगीर ने, उसको आन जगाया, सपने मे ॥५॥
आँख खुली जब देखा जगल, कहाँ गये वो सारे मगल।
राजपाट सब ठाट वाट पल, भरमे कहा समाया, सपने मे ॥६॥
हाय-हाय कर रोवन लागा, ले खुरपा मारन को भागा।
मूरख पथी तेने मेरी खोय, दई सबरी माया, सपने मे ॥७॥
ऐसे ही जानो जग सपना, पर द्रव्य को न मानो अपना।
मक्खन क्यो भरमाया, सपने मे राजपद पाया ॥८॥

३३. तर्ज-दिल लूटने वाले···

स्वास स्वास मे सुमिरन करले, करले आतम ज्ञान रे।
न जाने किस स्वास मे बाबा, मिल जाये भगवान रे ॥टेक॥
अनादिकाल से भूला चेतन, निज स्वरूप का ज्ञान रे।
जीव देह को एक गिने बस, इससे तू हैरान रे॥
शुभ को शुद्ध मानकर प्राणी, भ्रमत चतुर्गति माहि रे॥१॥
कभी नरक मे हुआ नारकी, कभी स्वर्ग मे देव रे।
कभी गया तिर्यंच गति मे, कभी मनुज पर्याय रे॥
चौरासी मे स्वाँग धरे पर, किया न भेद विज्ञान रे॥२॥

भारी भूल भई अब सोचो, सतगुरु रहे जगाय रे ।
यह अवसर यदि चूक गया तो, बार-बार पछतात रे ॥
सत को समझो समकित धरलो, होगा जग से पार रे ॥३॥

३४

समकित नीव नही डाली चेतन, चारित्र महल बनेगा कैसे ।
ज्ञान ध्यान का नही है गारा, मन स्थिर चित्त होगा कैसे ॥टेक॥
स्वानुभूतिनारी नही ब्याही, कुलवन्तिगुणखानशिरोमणि ।
सहज स्वभावी पुत्र चतुष्टय, गुण अमलान मिलेगा कैसे ॥१॥
एक भाव से कभी न देखा, अनन्त गुण परिवार अनोखा ।
खड-खड मे उलझ रहे हो, अखडता तो मिलेगी कैसे ॥२॥
राग की आग लगी निजघर मे, तुम देखो अपने अन्तर मे ।
समता जल मचित नही कीना, राग की आग बुझेगी कैसे ॥३॥
मिथ्या मत का चढा जहर तो, अमृतरस छलकेगा कैसे ।
दुख को सुखकर मान रहे हो, हलाहल विष को पीय रहे हो ॥४॥
अनुभव रस को कभी न चाखा, एक बार अतर नही झांका ।
इस कारण से मिला न अबतक, ज्ञानसुधा को पाओगे कैसे ॥५॥
करुणा निज की कभी न आई, पर की नित ही दया कराई ।
श्रद्धा के अकुर नही आये, चारित्र फल तो पकेगा कैसे ॥६॥

३५.

ज्ञानी जीव निवार भरम तम, वस्तु स्वरूप विचारत ऐसे ॥टेक॥
सुत तिय बन्धु धनादि प्रकट पर, ये मुझते है भिन्न प्रदेशे ।
इनकी परिणति है इन आश्रित, जो इन भाव परिनवे वैसे ॥१॥
देह अचेतन चेतन मे इन, परिनति होय एक सी कैसे ।
पूरन गलन स्वभाव धरे तन, मैं अज अचल अमल नभ जैसे ॥२॥
पर परिणमन न इष्ट अनिष्ट न, वृथा रोगरूष द्वन्द भये से ।
नसे ज्ञान निज फसे बन्ध मे, मुक्ति होय समभाव लये से ॥३॥
विषय चाह दवदाह नशे नहिं, बिन निज सुधा सिन्धु मे पैसे ।

अब निज बैन सुने श्रवजन तैं, मिटै विभाव करम विधि तेरे ॥४॥
ऐसा अवसर कठिन पाय अब, निज हित हेत विलम्बन करे से ।
पछतावो वहु होय सयाने, चेतन 'दौलत' छुटो भव भय से ॥५॥

३६. शिवराम

जाना नहिं निज आतमा, ज्ञानी हुए तो क्या हुये ।
ध्याया नही शुद्ध आत्मा, ध्यानी हुए तो क्या हुये ॥टेक॥
ग्रन्थ सिद्धान्त पढ लिये, शास्त्री महान बन गये ।
आत्मा रहा वहिरात्मा, पंडित हुए तो क्या हुए ॥१॥
पंच महाव्रत आदरे, घोर तपस्या भी करी ।
मन की कषायें ना मरी, साधु हुए तो क्या हुए ॥२॥
माला के दाने हाथ में, मनुआ फिरे बाजार में ।
मन की न माला फिरे, जपिया हुये तो क्या हुए ॥३॥
गाकर बजाकर नाचकर, पूजा भजन सदा किये ।
निज ध्येय को सुमिरो नही, भक्ति हुए तो क्या हुए ॥४॥
मान बडाई कारने, दाम हजारों खरचते ।
भाई तो भूखों मरे, दानी हुये तो क्या हुए ॥५॥
करें न जिनवर दर्श को, सेवन करें अभक्ष को ।
दिल मे जरा दया नही, जैनी हुये तो क्या हुए ॥६॥
दृष्टि न अन्तर फेरते, औगुन पराये हेरते ।
'शिवराम' एक ही नाम के, सामर हुए तो क्या हुए ॥७॥

३७. गजल

तन नही छूता कोई चेतन निकल जाने के बाद ।
फेंक देते फूल ज्यो खुशबु निकल जाने के बाद ॥टेक॥
आज जो करते किलोलें खेलते हैं साथ मे ।
कल डरेंगे देख तन निरजीव हो जाने के बाद ॥१॥
बात भी करते नही जो आज धन की ऐंठ मे
वे मांगते आये नजर तकदीर फिर जाने के बाद ॥२॥

पाँव भी धरती पे जिसने है कभी रखे नही।
वन मे भटकते वो फिरे आपत्ति आ जाने के बाद ।।३।।
बोलते जब लौं सगे हैं चार पैसा पास मे।
नाम भी पूछे नही पैसा निकल जाने के बाद ।।४।।
स्वार्थ प्यारा रह गया, असली मुहब्बत उठ गई।
भूल जाता माँ को बछडा पय निकल जाने के वाद ।।५।।
भाग जाता हस भी निरजल सरोवर देखकर।
छोड देते वृक्ष पक्षी पत्र झड जाने के बाद ।।६।।
लोग ऐसे मतलबी फिर क्यो करे विश्वास हम।
बाल डरता आग से इक बार जल जाने के बाद ।।७।।
इस अथिर ससार मे क्यो मगन कुन्दन हो रहा।
देख फिर पछतायेगा असमर्थ हो जाने के बाद ।।८।।

३८. तर्ज-एक परदेसी मेरा··

कुन्द-कुन्द आचार्य कह गये जो निज आतम को ध्यायेगा।
पर से ममता छोडेगा, निश्चय भव से तिर जावेगा ।।टेक।।
क्रिया काड मे धर्म नही है, पर से धर्म नही होगा नही होगा।
निज स्वभाव के रमे बिना नही, किंचित धर्म कभी होगा कभी होगा ।।

शुद्ध चेतना रूप जीव का धर्म वस्तु मे पायेगा, पर से· ।।१।।
निज स्वभाव के साधन से ही, सिद्ध प्रभु बन जावेगा, बन जावेगा।
बाह्य भाव शुभ-अशुभ सभी से, जग मे गोते खावेगा, गोते खावेगा ।।

मुक्ति चाहने वाला तो निज से निज गुण प्रगटावेगा, पर से·· · ।।२।।
जीव मात्र ऐसा चाहते है, दुख मिट जावे सुख आवे, सुख आवे।
करते रहते है उपाय जो, अपने अपने मन भावे, अपने मन भावे ।।

राग द्वेष परभाव तजेगा, वो निश्चय सुख पायेगा,पर से……॥३॥
पर पदार्थ नही खोटा चोखा, नही सुख दुख देने वाला, देने वाला।
इष्ट-अनिष्ट की मान्यता से ही, मूर्ख भटकते मतवाला,
मतवाला ॥
सभी जीव निज पर विवेक से शुद्ध चिदानन्द पायेगा,पर से… ॥४॥

३९. भैया

फसै मत विषयो मे मन कहना मेरा मान ॥ टेक ॥
मैथुन इन्द्री के वश हस्ती, झुठी हथिनी लखि होय मस्ती।
पडे गडे मे आन, फसै मत विषयो मे मन कहना मेरा मान ॥१॥
रसना के वश मछली आवे, काँटे से निज कठ छिदावे।
खोवै अपनी जान,फसै मत विषयो मे मन कहना मेरा मान ॥२॥
भौंरा सू घन हेत सुगन्धी, बैठि कमल मे होता वन्दी।
मूढ गंवावै प्राण,फसै मत विषयो मे मन कहना मेरा मान ॥३॥
नयन विषय वश होय पतगा, दीपक माँहि जलावे अगा।
तजै प्राण अज्ञान, फसै मत विषयो मे मन कहना मेरा मान॥४॥
कर्ण विषय वश सर्प विपिन मे,बीन सुनत हरषे निज मन मे।
गहे शिकारी आन,फसै मत विषयो मे मन कहना मेरा मान ॥५॥
एक-एक वश हम दुख पावैं, तो पाँचो की कौन चलावे।
समझि अरे नादान, फसै मत विषयो मे मन कहना मेरा मान ॥६॥
'भैया' पाँचो को जो त्यागे,विषय भोग मे कभी ना लागे।
वो ही पुरुष महान,फसै मत विषयो मे मन कहना मेरा मान ॥७॥

४०

समय उठ चेत रे चेन, भरोसा है नही पल का।
खडी मुख फाडकर मृत्यु, भरोसा है नही पल का। ॥टेक॥
वालपन खेल मे खोया, जवानी नीद भर सोया।
बुढापे मे बढी तृष्णा हुआ, नही बोझ भी हलका ॥१॥

प्रभु का नाम नही लीना, उमर सारी बितादी यूं।
बुलावा मौत का आया, चखो सब स्वाद निज फलका ॥२॥
सिफारिश भी नही चलती, किसी की मौत के आगे।
राम रावण बली हारे, पता जिनका न था बल का ॥३॥
विजय गर मृत्यु पर चाहो, करो निज आतम का चिन्तन।
ज्ञान का दीप जागेगा, दिखेगा मार्ग शिवपुर का ॥४॥

४१. भैया

परदेशी प्यारे ! कौन है देश तुम्हारा ॥टेक॥
कौन असल मे गाम तुम्हारा, कौन जगह घर द्वारा।
कौन तुम्हारे मात पिता हैं, करो रूप विस्तारा ॥१॥
असख्य प्रदेशी गाँव हमारा, सम्यग्दर्शन द्वारा।
ज्ञाता-दृष्टा मात-पिता मम, अनन्त गुण परिवारा ॥२॥
अवगुण अपने आप सुधारो, गुरू का लेय सहारा।
और न कोई मित्र जगत मे, पार लगावन हारा ॥३॥
देख दोष निज दूर करो सब, रहो कपट से न्यारा।
अहँकार आने नही पावे, समझो तभी किनारा ॥४॥
विषय-कषाय हैं दुश्मन सारे, करो न प्रेम पसारा।
भोग-भोगना सुख स्वरूप का, सुखाभास पर धारा ॥५॥
धन्य भाग सब नर नारी का, पाया नर भव प्यारा।
आतम का उपदेश सुनाते, 'भया' करो सुधारा ॥६॥

४२ द्यानतराय

आतम अनुभव करना रे भाई, आतम अनुभव करना रे।
जब लौं भेदभाव नही उपजै, जन्म मरण दुख भरना रे ॥टेक॥
आतम पढ नव तत्व वखाने, व्रत तप सयम धरना रे।
आतम ज्ञान बिना नहि कारज, यौनी सकट परना रे ॥१॥
सकल ग्रन्थ दीपक हैं भाई, मिथ्यातम को हरना रे।
कहा कहे ते अन्ध पुरूष को, जिन्हैं उपजना मरना रे ॥२॥

'द्यानत' जे भव सुख चाहत हैं, तिनको यह अनुसरना रे।
सोऽहं ये दो अक्षर जप के, भवोदधि पार उतरना रे ॥३॥

४३. न्यामत

सदा सन्तोष कर प्राणी, अगर सुख से रहया चाहे।
घटा दे मन की तृष्णा को, अगर अपना भला चाहे ॥टेक॥
आग मे जिस कदर ईंधन, पडेगा ज्योति ऊँची हो।
बढा मत लोभ की तृष्णा, अगर दुःख मे बचा चाहे ॥१॥
वही धनवान है जग मे, लोभ जिसके नही मन मे।
वह निर्धन रंक होता है, जो पर धन को हरा चाहे ॥२॥
दुःखी रहते हैं वे निशदिन, जो आरत ध्यान करते हैं।
न कर लालच अगर, आजाद रहने का मजा चाहे ॥३॥
बिना मांगे मिले मोती, 'न्यामत' देख दुनिया मे।
भीख मांगे नही मिलती, अगर कोई गहा चाहे ॥४॥

४४

मेरा आज तलक प्रभु करुणापति
थारे चरणो मे जियरा गया ही नही।
मैं तो मोह की नीद मे सोता रहा
मुझे तत्वो का दरस भया नही ॥टेक॥
मैंने आतम बुद्धि बिसार दई,
और ज्ञान की ज्योति बिगाड लई।
मुझे कर्मो ने ज्यो त्यो फसा ही लिया,
थारे चरणो मे आन दिया ही नहीं ॥१॥
प्रभु नरको मे दुःख मैंने सहे,
नही जायें प्रभु अब मुझसे कहे।
मुझे छेदन भेदन सहना पडा,
और खाने को अन्न मिला ही नही ॥२॥

मैं तो पशुओ मे जाकर के पैदा हुआ,
मेरा और भी दु ख वहाँ ज्यादा हुआ ।
किसी माँस के भक्षी ने आन हता,
मुझ दीन को जाने दिया ही नही ॥३॥

मै तो स्वर्गों मे जाकर देव हुआ,
मेरे दुःख का वहाँ भी न छेद हुआ,
मैं तो आयु को यूँ ही बिताता रहा,
मैंने सयम भार लिया ही नही ॥४॥

प्रभु उत्तम नरभव मैंने लहा,
और निशदिन विषयो मे लिप्त रहा ।
माता पिता प्रियजन ने मुझे,
चैन तो लेने दिया ही नही ॥५॥

मैंने नाहक जीवो का घात किया,
और पर धन छलकर खोश लिया ।
मेरी औरो की नारी पे चाह रही,
मैंने सत तो भाषण दिया ही नही ॥६॥

मैं तो मोह की नीद मे सोता रहा,
मैंने आतम दरस किया नही ।
मैं तो क्रोध की ज्वाला मे भस्म रहा,
मैंने शान्ति सुधा रस पिया ही नही ॥७॥

जिनवर प्रभु अब सुनिये तो जरा,
मेरा पापो से डरता है जियरा ।
खडा थारे चरणो मे ये दास चमन,
मैंने और ठिकाना लिया ही नही ॥८॥

४५

जीव स्वतंत्र है कोई बधन नही, इसका पुद्‌गल में आना गजब हो गया ॥टेक ।

आपको भूल बैठा जरा लोभ मे, पर मे दृष्टि लगाना गजब हो गया।
राज वैभव मिला इन्द्री सुख भी मिला
तुझको तत्व समझना गजब हो गया ॥१॥
दुर्लभ मानुष जन्म पाके हे आत्मन, तुझको ज्ञानी कहाना गजब हो गया।
आत्म शक्ति बराबर है हर जीव मे,
सच्चे ज्ञान का होना गजब हो गया ॥२॥
मिथ्याभाव को लेकर स्वर्ग गया, वहाँ माला मुरझाना गजब हो गया।
चारो गति मे गया सुख कही न मिला,
सम्यग्दर्शन का पाना गजब हो गया ॥३॥
अपने मडल मे भक्ति का भाव जगा, सच्चे देव गुरु का समागम मिला।
मेरे आतम मे आनन्द की लहरें उठी,
सच्चे दर्शन का पाना सुगम हो गया ॥४॥

४६. (तर्ज तुम्हीं मेरे मन्दिर)

न समझो अभी मित्र कितना अधेरा, जभी जाग जाओ तभी है सवेरा ॥टेक॥
गई सो गई मत गई को बुलाओ, नया दिन हुआ है नया डग बढाओ।
न सोचो न लाओ बदन पर मलिनता, तुम्हारे करो मे है कल की सफलता ॥
जली ज्योति बन कर ढकेला अधेरा, जभी जाग जाओ तभी है सवेरा ॥१॥
पियो मित्र शोले समझ करके पानी, दु खो ने लिखी है सुखो की कहानी।
नही पढ सका कोई किस्मत का कासा, नही जानत कब पलट जाये पासा ॥
चल जो मिला मजिलो का बसेरा, जभी जाग जाओ तभी है सवेरा ॥२॥

व्यथायें मिलें तो उन्हे तुम दुलारो, प्रगति प्रेम मे मिले तो पुकारो।
दु खो की सदा उम्र छोटी रही है, सदा श्रम सुखो को ही वीती रही है॥
सदा पतझरो मे वहारो को टेरा, जभी जाग जाओ तभी है सवेरा॥३॥
गुरुदेव के द्वारा नया दिन मिला है, जो निधियाँ बिखरती वो लूटो हमेशा।
अनेक ग्रन्थ मथन से हीरा निकला, तुम जौहरी वन करके कर दो उजाला॥
जरा भूल की तो नरक में वसेरा, जभी जाग जाओ तभी है सवेरा॥४॥
न समझो मित्र कितना अधेरा, अभी जाग जाओ अभी है सवेरा।

४७. (राजमल पवैया)

जव तक मिथ्यात्व हृदय मे है, ससार न पल भर कम होगा।
जव तक परद्रव्यो से प्रतीति भवभार न तिल भर कम होगा॥टेक॥
जव तक शुभ अशुभ को हित समझा, तव तक सवर का भान नही।
निर्जरा कर्म ही कैसे हो, जव तक स्वभाव का भान नही॥१॥
जब तक कर्मों का नाश नही, तव तक निर्वाण नही होगा।
जब तक निर्वाण नही होगा, भव दु ख से त्राण नही होगा॥२॥
जव तक तत्वो का ज्ञान नही, तव तक समकित कैसे होगा।
जव तक सम्यक्त्व नही होगा, तव तक निज हित कैसे होगा॥३॥
इसलिये मुख्य पुरुषार्थ प्रथम, सम्यक्त्व प्राप्त करना होगा।
निज आत्म तत्व के आश्रय से, वसु कर्मजाल हरना होगा॥४॥
विन समकित व्रत पूजन अर्चन, जप तप सव तेरे निष्फल है।
ससार वध के हैं प्रतीक, भवसागर के ही दलदल हैं॥५॥

(४८ राजमल पवैया)

गाडी खडी रे खडी रे तैयार, चलो रे भाई मोक्षपुरी।टेक॥
सम्यग्दर्शन टिकट कटाओ, सम्यग्ज्ञान सवारो।
सम्यक्चारित्र की महिमा से, आठो कर्म निवारो॥१॥

अगर बीच मे अटके तो, सर्वार्थ सिद्धि जाओगे।
तैंतीस सागर एक कोटि, पूरब वियोग पाओगे ॥२॥
फिर नर भव से ही यह गाडी, तुमको ले जायेगी।
मुक्ति वधु से मिलन तुम्हारा, निश्चित करवायेगी ॥३॥
भव सागर का सेतु लाँघकर, यह गाडी जाती है।
जिसने अपना ध्यान लगाया, उसको पहुचाती है ॥४॥
यदि चूके तो फिर अनन्त भव, घर घर पछताओगे।
मोक्षपुरी के दर्शन से तुम, वन्चित रह जाओगे ॥५॥

४९. (राजमल पवैया)

देखो खडा है विमान महान, चलो रे भाई सिद्धपुरी ॥टेक॥
वायुयान आया है सीट, सुरक्षित अभी करालो।
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र, तीनो के पास मगालो ॥१॥
नर भव से ही यह विमान, सीधा शिवपुर जाता है।
जो चूका वह फिर अनन्त, कालो तक पछताता है ॥२॥
रत्नत्रय की बर्थ सभालो, शुद्ध भाव मे जीलो।
निज स्वभाव का भोजन लेकर, ज्ञानामृत जल पीलो ॥३॥
निज स्वभाव मे जागरुक जो, उनको पहुचायेगा।
सिद्ध शिला सिंहासन तक जा, तुमको बिठलायेगा ॥४॥
मुक्ति भवन मे मोक्ष वधु, वर माला पहनायेगी।
सादि अनन्त समाधि मिलेगी, जगती गुण गायेगी ॥५॥

५०. (राजमल पवैया)

करलो जिनवर की पूजन, आई पवन घडी।
आई पावन घडी, मन भावन घडी ॥टेक॥
दुर्लभ यह मानव तन पाकर, करलो जिन गुणगान।
गुण अनन्त सिद्धो का सुमिरण, करके बनो महान ॥१॥
ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, मोहनीय अन्तराय।
आयु नाम अरु गोत्र वेदनीय, आठो कर्म नशाय ॥२॥

धन्य धन्य सिद्धो की महिमा, नाश किया ससार।
निज स्वभाव से सिद्ध पद पाया, अनुपम आगम अपार ॥३॥
जड से भिन्न सदा तुम चेतन, करो भेद विज्ञान।
सम्यग्दर्शन अगीकृत कर, निज को लो पहचान ॥४॥
रत्नत्रय की तरणी चढकर, चलो मोक्ष के द्वार।
शुद्धातम का ध्यान लगाओ, हो जाओ भव पार ॥५॥

५१. राजमल पवैया

हमको भी बुलवालो स्वामी, सिद्धो के दरबार मे ॥टेक॥
जीवादिक सातों तत्वो की, सच्ची श्रद्धा हो जाये।
भेद ज्ञान से हमको भी प्रभु, सम्यकदर्शन हो जाये॥
मिथ्यातम के कारण स्वामी, हम डूबे ससार मे ॥१॥
आत्म द्रव्य का ज्ञान करें हम, निज स्वभाव मे आ जायें।
रत्नत्रय की नाव बैठकर, मोक्षभवन को पा जायें॥
पर्यायो को चकाचौन्ध से, बहते हैं मझधार मे ॥२॥

५२. (तर्ज तुम्हीं मेरे मन्दिर ··)

स्वय अपना स्वामी, स्वय अपना गुरु,
स्वय उपादेय है, स्वय उपादेय है ॥टेक॥
बहुत जीव देखे कोई सुखी ना,
परम सुख अनुभव कोई करे ना।
स्वानुभव करले अन्तर की चीज है,
भेदज्ञान करले भव चला जाय रे ॥१॥
बाहर की क्रिया तो एक सी होती है,
सम्यक्दृष्टि की दृष्टि अलग है।
मिथ्यादृष्टि माने मैं सब का करता,
सम्यक्दृष्टि माने मैं सिर्फ ज्ञाता ॥२॥
शास्त्र जो लिखे व्यवहार व निश्चय से,
अभूतार्थ व्यवहार भूतार्थ निश्चय है।

निश्चय उपादेय है व्यवहार हेय है,
नय दृष्टि करले भव चला जाय रे ॥३॥
पूजा भक्ति दया, तप और दान,
बिना समझे किये आतम भान।
स्व दृष्टि करले अवसर है आया,
व्यभिचार छोड दे भव चला जाय रे ॥४॥
पचम बीच नाचे ये निर्णय कर तू,
चौथा समझले पुरुषार्थ कर तू।
प्राप्त की प्राप्ति अवश्य होती है,
सन्देह छोड दे भव चला जाय रे ॥५॥
सयोग जो होता है अपने ही कारण,
वियोग जो होता है अपने ही कारण।
परद्रव्य का कुछ भी कभी न कर सके तू,
कृतीत्व छोड दे भव चला जाय रे ॥६॥
बहुत काल बीता धर्म ना पाया,
स्व मे धर्म था पर मे जो माना।
चेतन चेततू अवसर है आया,
भेदज्ञान करले भव चला जाय रे ॥७॥

५३. (शिवराम)

हे जिनवाणी माता तुमको लाखो प्रणाम, तुमको लाखो प्रणाम।
शिवसुखदानी माता तुमको लाखो प्रणाम, तुमको लाखो प्रणाम ॥टेक॥
तू वस्तुस्वरूप बतावे, अरू सकल विरोध मिटावे।
स्याद्वाद विख्याता तुमको लाखों प्रणाम, तुमको लाखो प्रणाम ॥१॥
तू करे है ज्ञान का मण्डन, मिथ्यात्व कुमारग खण्डन।
तीन जगत की माता तुमको लाखो प्रणाम, तुमको लाखो प्रणाम ॥२॥
तू लोक अलोक प्रकासे, चर अचर पदार्थ विकासे।
हे विश्व तत्व की ज्ञाता तुमको लाखो प्रणाम, तुमको लाखो प्रणाम ॥३॥

तू स्व पर स्वरूप सुझावे, सिद्धान्तो का मर्म बतावे।
तू मेटे सर्व असाता तुमको लाखो प्रणाम, तुमको लाखो प्रणाम ॥४॥
शुद्धातम तत्व दिखावे, रत्नत्रय पथ प्रगटावे।
निज आनन्द अमृतदाता तुमको लाखो प्रणाम, तुमको लाखो प्रणाम ॥५॥
हे मात ? कृपा अब कीजे, परभाव सकल हर लीजे।
'शिवराम' सदा गुण गाता तुमको लाखो प्रणाम, तुमको लाखो प्रणाम ॥६॥

कविवर बुधजन कृत छहढाला

मंगलाचरण

सर्व द्रव्य मे सार, आतम को हितकार है।
नमों ताहि चितधार, नित्य निरंजन जानके ॥

अर्थ—जो समस्त द्रव्यो मे सार है एव आत्मा को हितकार है, ऐसे नित्य निरजन स्वरूप को जानकर उसे चित्त मे धारण करके मैं नमस्कार करता हू।

भावार्थ—ज्ञानी महापुरुषार्थवान है, क्योकि वे ससार शरीर और भोगो से अत्यन्त विरक्त होते हैं, और जिस प्रकार कोई माता पुत्र को जन्म देती है, उसी प्रकार यह बारह भावनायें वैराग्य उत्पन्न करती हैं, इसीलिये ज्ञानी इन बारह भावनाओ का चिन्तवन करते हैं। जिस प्रकार वायु लगने से अग्नि एकदम भभक उठती है, उसी प्रकार इन बारह भावनाओ का बारम्बार चिन्तवन करने से समता रूपी सुख बढ जाता है। जब यह जीव आत्म स्वरूप को जानता है तब पुरुषार्थ बढाकर पर पदार्थों से सम्बन्ध छोडकर परमानन्दमयी स्वरूप मे लीन होकर समता रस का पान करता है और अन्त मे मोक्ष सुख प्राप्त करता है।

१. अनित्य भावना

आयु घटे तेरी दिन-रात, हो निश्चिन्त रहो क्यो भ्रात।
यौवन तन धन किंकर नारि, हैं सब जल बुदबुद उनहारि ॥१॥

अर्थ—हे भाई ! तेरी आयु दिन रात घटती ही जा रही है फिर भी तू निश्चत कैसे हो रहा है ? यह यौवन, शरीर, लक्ष्मी, सेवक, स्त्री आदि सभी पानी के बुलबुले समान क्षण भगुर हैं।

भावार्थ—यौवन, मकान, गाय-भैस, धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्र, घोडा-हाथी, कुटुम्बीजन, नौकर-चाकर तथा पाँच इन्द्रियो के विषय यह सर्व क्षणिक वस्तुयें हैं—अनित्य है। जिस प्रकार इन्द्र धनुष और बिजली देखते-देखते ही विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार यह यौवनादि कुछ ही काल मे नाश को प्राप्त होते हैं, किन्तु एक निज शुद्धात्मा ही नित्य और स्थायी है। ऐसा स्वोन्मुखता पूर्वक चिन्तवन करके ज्ञानी जीव वीतरागता की वृद्धि करता है वह 'अनित्य भावना" है।

२. अशरण भावना

पूरण आयु बढे छिन नाहिं, दिये कोटि धन तीरथ माँहि।
इन्द्र चक्रपति हू क्या करैं, आयु अन्त पर वे हू मेरे ॥२॥

अर्थ—हे भाई ! आयु समाप्त होने पर एक क्षण भी बढती नही, भले करोडो रुपया धनादि तीर्थों पर दान करो। इन्द्र चक्रवर्ती भी क्या करे ? आयु पूर्ण होने पर वे भी मरते हैं।

भावार्थ—ससार मे जो-जो देवेन्द्र, असुरेन्द्र आदि हैं उन सबका जिस प्रकार हिरन को सिह मार डालता है; उसी प्रकार मृत्यु नाश करता है। चिन्तामणि आदि मणि, मन्त्र-तन्त्र-जन्त्रादि कोई भी मृत्यु से नही बचा सकता। यहाँ ऐसा समझना कि निज आत्मा ही शरण है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नही है। कोई जीव अन्य जीव की रक्षा कर सकने मे समर्थ नहीं है, इसलिये पर से रक्षा की आशा करना व्यर्थ है। सर्वत्र-सदैव एक निज आत्मा ही अपना शरण है।

आत्मा निश्चय से मरता ही नही है, क्योकि वह अनादि अनन्त है—ऐसा स्वोन्मुखता पूर्वक चिन्तवन करके ज्ञानी जीव वीतरागता की वृद्धि करता है वह "अशरण भावना" है ॥२॥

३. संसार भावना

यो संसार असार महान, सार आप में आपा जान।
सुख से दुख, दुख से सुख होय, समता चारों गति नहि कोय ॥३॥

अर्थ—हे भाई ! इस प्रकार यह ससार अत्यन्त असार है, उसमे अपना आत्मा ही मात्र सार है। ससार मे सुख के पश्चात दुःख एव दुःख के पश्चात सुखरूप आकुलता होती ही रहती है। चारो गतियो मे कही भी लेशमात्र सुख शान्ति नही है।

भावार्थ—जीव की अशुद्ध पर्याय वह ससार है। अज्ञान के कारण जीव चारो गतियो मे दु ख भोगता है और पांच परावर्तन करता रहता है किन्तु कभी शान्ति प्राप्त नही करता; इसलिये वास्तव मे ससार-भाव (शुभाशुभाव) सर्व प्रकार से सार रहित है, उसमे किंचित् मात्र सुख नही है, क्योकि जिस प्रकार सुख की कल्पना की जाती है वैसा सुख का स्वरूप नही है और जिसमे सुख मानता है वह वास्तव मे सुख नही है—किन्तु वह पर द्रव्य के आलम्बन रूप मलिनभाव होने से आकुलता उत्पन्न करने वाला भाव है। निज आत्मा ही सुखमय है, उसके ध्रुव स्वभाव मे ससार है ही नही—ऐसा स्वोन्मुखता पूर्वक चिन्तवन करके ज्ञानी जीव वीतरागता मे वृद्धि करता है वह "ससार भावना" है ॥३॥

४. एकत्व भावना

अनन्तकाल गति गति दुख लह्यो, बाकी काल अनन्तो कह्यो।
सदा अकेला चेतन एक, तो माहीं गुण वसत अनेक ॥४॥

अर्थ—हे भाई ! इस जीव ने अनादिकाल से चारो ही गतियो मे दु ख ही पाया और बाकी अनन्तकाल पर्यन्त चारो गतियाँ रहने वाली

है। चारो गति मे जीव अकेला ही रहता है। तू चेतन एक है तो भी उसमे अनन्त गुण बसते हैं—सदाकाल विद्यमान रहते हैं।

भावार्थ—जीव का सदा अपने स्वरूप से अपना एकत्व और पर से विभक्तपना है; इसलिए वह स्वय ही अपना हित-अहित कर सकता है—पर का कुछ नही कर सकता। इसलिये जीव जो भी शुभाशुभ भाव करता है उनका आकुलतारूप फल स्वय अकेला ही भोगता है, उसमे अन्य कोई स्त्री, पुत्र, मित्रादि सहायक नही हो सकते, क्योकि वे सब पर पदार्थ हैं और वे सब पदार्थ जीव को ज्ञेय मात्र हैं इसलिये वे वास्तव में जीव के सगे सम्बन्धी हैं ही नही। तथापि अज्ञानी जीव उन्हे अपना मानकर दुखी होता है। पर के द्वारा अपना भला-बुरा होना मानकर पर के साथ कर्तृत्व-ममत्व का अधिकार माना है वह अपनी भूल से ही अकेला दुखी होता है। ससार मे और मोक्ष मे यह जीव अकेला ही है—ऐसा जानकर ज्ञानी जीव निज शुद्ध आत्मा के साथ ही सदैव अपना एकत्व मानकर अपनी निश्चय परिणति द्वारा शुद्ध एकत्व की वृद्धि करता है वह "एकत्वभावना" है ॥४॥

५. अन्यत्व भावना

तू न किसी का तेरा न कोय, तेरा सुख दुख तुझ को होय।
याते तुझको तू उरधार, पर द्रव्यन ते ममत निवार ॥५॥

अर्थ—हे जीव! तू अन्य किसी का नही और अन्य भी तेरा कोई नही है। तेरा सुख दुख तुझको ही होता है, इसलिये पर द्रव्य पर भावो से भिन्न अपने स्वरूप को तू अन्तर मे धारण कर एव समस्त पर द्रव्य पर भावो से मोह छोड।

भावार्थ—जिस प्रकार दूध और पानी एक आकाश क्षेत्र मे मिले हुये हैं, परन्तु अपने-अपने गुण आदि की अपेक्षा से दोनो बिल्कुल भिन्न-भिन्न हैं, उसी प्रकार यह जीव और शरीर भी मिले हुये एकाकार दिखाई देते हैं, तथापि वे दोनो अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से बिल्कुल भिन्न-भिन्न हैं—कभी एक नही होते। जब जीव और शरीर भी पृथक-पृथक है, तो फिर प्रगट रूप से भिन्न दिखाई देने वाले ऐसे

मोटर गाडी, धन, मकान, बाग, पुत्र-पुत्री, स्त्री आदि अपने साथ कैसे एकमेक हो सकते है ? इस प्रकार सर्व पर पदार्थों को अपने से भिन्न जानकर, स्व सन्मुखता पूर्वक ज्ञानी जीव वीतरागता की वृद्धि करता है, वह "अन्यत्व भावना" है ॥५॥

६. अशुचि भावना

हाड़ मांस तन लिपटी चाम, रुधिर मूत्र-मल पूरित धाम।
सो भी थिर न रहे क्षय होय, याको तजे मिले शिव लोय ॥६॥

अर्थ—हे जीव ! हाड-मास से भरा हुआ यह शरीर ऊपर से चमड़ी से मढा हुआ है, अन्दर तो रुधिर मल-मूत्रादि से भरा हुआ धाम है। ऐसा होने पर भी वह स्थिर तो रहता ही नही, निश्चयकर क्षय को प्राप्त हो जाता है। देह से एकत्व-ममत्व हटते ही जीव को मोक्षमार्ग और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

भावार्थ—शरीर को मलिन बतलाने का आशय—भेद ज्ञान द्वारा शरीर से स्वरूप का ज्ञान कराके, अविनाशीनिज पद मे रुचि कराना है, किन्तु शरीर के प्रति द्वेषभाव उत्पन्न कराने का आशय नही है। शरीर तो उसके अपने स्वभाव से ही अशुचिमय है और यह भगवान आत्मा निज स्वभाव से ही शुद्ध एव सदा शुचिमय पवित्र चैतन्य पदार्थ है। इसलिये ज्ञानी जीव अपने शुद्ध आत्मा की सन्मुखता द्वारा अपनी पर्याय मे पवित्रता का वृद्धि करता है वह "अशुचिभावना" है ॥६॥

७. आस्रव भावना

हित अनहित तन कुल जन माहि, खोटी बान हरो क्यों नाहि।
याते पुद्गल कर्म नियोग, प्रणवे दायक सुख दुख रोग ॥७॥

अर्थ—हे जीव ! शरीर, कुटुम्बी जन इत्यादि मे हित-अनहितरूप मिथ्या प्रवृत्ति को तू क्यो नही छोडता। इस मिथ्या प्रवृत्ति से तो पुद्गल कर्मो का आस्रव बन्ध होता है, जो कि साता-असातारूप सुख-दुख रोग को देने वाला होकर परिणमता है।

भावार्थ—विकारी शुभाशुभ भावरूप जो अरुपी दशा जीव मे

होती है वह भावास्रव है और उस समय नवीन कर्म योग्य रजकणो का स्वय स्वत आना सो द्रव्यास्रव है। पुण्य-पाप दोनो आस्रव और बन्ध के भेद है। परमार्थ से पुण्य-पाप (शुभाशुभभाव) आत्मा को अहित कर है। द्रव्य-पुण्य-पाप तो पर वस्तु हैं, वे कही आत्मा का हित-अहित नही कर सकते। ऐसा यथार्थ निर्णय प्रत्येक ज्ञानी जीव को होता है। और इस प्रकार विचार करके ज्ञानी जीव स्वद्रव्य के अवलम्बन के वल से जितने अश मे आस्रव भाव को दूर करता है उतने अश मे उसे वीतरागता की वृद्धि होती है—उसे "आस्रव भावना" कहते हैं ॥७॥

८. संवर भावना

पाचो इन्द्रिन के तज फैल, चित्त निरोध लाग शिवगैल।
तुझ मे देरी तू कर शैल, रहो कहा हो कोलू वैल ॥८॥

अर्थ—हेजीव ! तू पाँचो इन्द्रियो के विषयो को रोककर, चित्त निरोध करके (सकल्प-विकल्प रूप मिथ्याभावो का परिहार करके) मोक्षमार्ग मे लग जाना। तू अपने को जड पत्थर सदृश कर अपने पुरुषार्थ मे देरी क्यो कर रहा है ? व्यर्थ ही कोल्हू के बैल की भान्ति क्यो भटक रहा है।

भावार्थ—आस्रव का रोकना वह सवर है। सम्यग्दर्शनादि द्वारा मिथ्यात्वादि आस्रव रुकते है। शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनो वन्ध के कारण हैं—ऐसा ज्ञानी जीव पहले से ही जानता है। यद्यपि साधक को निचली भूमिका मे शुद्धता के साथ अल्प शुभाशुभ भाव होते है किन्तु वह दोनो को वन्ध का कारण मानता है। इसलिये ज्ञानी जीव स्वद्रव्य के आलम्वन द्वारा जितने अश मे शुद्धता करता है उतने अश मे उसे सवर होता है और वह क्रमश. शुद्धता मे वृद्धि करके पूर्ण शुद्धता प्राप्त करता है। वह "सवर भावना" है ॥८॥

९. निर्जरा भावना

तज कषाय मन की चल चाल, ध्यावो अपनो रूप रसाल।
झड़े कर्म बन्धन दुखदान, बहुरि प्रकाशै केवलज्ञान ॥९॥

अर्थ—हे जीव ! तू कषाय एवं मन की चंचल वृत्ति को छोडकर, आनन्द रस से भरे हुये अपने निज स्वरूप को ध्याओ, जिससे कि दु:खदायी कर्म झड जावे और केवल ज्ञान प्रकाश प्रगट हो।

भावार्थ—अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होने पर कर्मों का खिर जाना तो प्रति समय अज्ञानी को भी होता है, वह कही शुद्धि का कारण नही होता है। परन्तु आत्मा के शुद्ध प्रतपन द्वारा जो कर्म खिर जाते हैं वह अविपाक अथवा सकाम निर्जरा कहलाती है। तदनुसार शुद्धि की वृद्धि होते होते सम्पूर्ण निर्जरा होती है तब जीव शिवसुख प्राप्त करता हैं। ऐसा जानता हुआ ज्ञानी जीव स्वद्रव्य के आलम्बन द्वारा जो शुद्धि की वृद्धि करता है वह "निर्जरा भावना" है ॥९॥

१०. लोक भावना

तेरो जन्म हुओ नहिं जहाँ, ऐसा क्षेत्तर नाहिं कहाँ।
याही जन्म भूमिका रचो, चलो निकल तो विधि से बचो ॥१०॥

अर्थ—हे जीव ! सम्पूर्ण लोक मे ऐसा कोई क्षेत्र बाकी नही जहाँ तेरा जन्म न हुआ हो। तू इसी जन्मभूमि मे मोहित होकर क्यो मगन हो रहा है ? तू सम्यक् पुरुषार्थी बनकर इस लोक से निकल अर्थात् अशरीरी जो सिद्धपद उसमे स्थिर होओ। तभी तू सकल कर्म बन्धन से छूट सकेगा।

भावार्थ—ब्रह्मा आदि किसी ने इस लोक को बनाया नही है, विष्णु या शेष नाग आदि किसी ने इसे टिका नही रक्खा है तथा महादेव आदि किसी से यह नष्ट नही होता, किन्तु यह छह द्रव्यमय लोक स्वय से ही अनादि अनन्त है। छहो द्रव्य नित्य स्व स्वरूप से स्थित रहकर निरन्तर अपनी नई-नई अवस्थाओ से उत्पाद-व्ययरूप परिणमन करते रहते हैं। एक द्रव्य मे दूसरे द्रव्य का अधिकार नही

है। यह छह द्रव्य स्वरूप लोक वह मेरा स्वरूप नही है, वह मुझसे त्रिकाल भिन्न है, मैं उससे भिन्न हूँ। मेरा शाश्वत चैतन्य लोक ही मेरा स्वरूप है। ऐसा ज्ञानी जीव विचार करता है और स्वोन्मुखता द्वारा विषमता मिटकर, साम्यभाव वीतरागता बढाने का अभ्यास करता है। वह "लोकभावना" है ॥१०॥

११. बोधि दुर्लभ भावना

सब व्यवहार क्रिया को ज्ञान, भयो अनन्ती बार प्रधान।
निपट कठिन अपनी पहिचान, ताको पावत होत कल्याण ॥११॥

अर्थ—हे जीव! सर्व व्यवहार कियाओ का ज्ञान तो तुझे अनन्ती बार हुआ, परन्तु जिसकी प्राप्ति से कल्याण होता है ऐसे निज चिदानन्द घनस्वरुप की पहचान अत्यन्त दुर्लभ है। अत उस ही की पहचान करना योग्य है,—ऐसा तू जान।

भावार्थ :—(१) मिथ्यादृष्टि जीव मन्द कषाय के कारण अनेक बार ग्रैवेयक तक उत्पन्न होकर अहमिन्द्र पद को प्राप्त हुआ है, परन्तु उसने एक बार भी सम्यग्ज्ञान प्राप्त नही किया, क्योकि सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना वह अपूर्व है। उसे तो स्वोन्मुखता के अनन्त पुरुपार्थ द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है और ऐसा होने पर विपरीत अभिप्राय आदि दोषो का अभाव होता है। (२) सम्यग्दर्शन-ज्ञान आत्मा के आश्रय से ही होते है। पुण्यकर्म, पुण्यभाव, पुण्य की सामग्री और परलक्षी ज्ञान के उघाड से नही होते। इस जीव ने बाह्य सयोग, चारो गति के लौकिक पद अनन्त बार प्राप्त किये हैं, किन्तु निज आत्मा का यथार्थ स्वरूप स्वानुभव द्वारा प्रत्यक्ष करके उसे कभी नही समझा, इसलिये उसकी प्राप्ति अपूर्व है। (३) बोधि अर्थात निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता की प्राप्ति प्रत्येक जीव को करना चाहिये। ज्ञानी जीव स्व सन्मुखता पूर्वक ऐसा चिन्तवन करता है और अपनी बोधि और शुद्धि का बारम्बार अभ्यास करता है।—वह "बोधि दुर्लभ भावना" है ॥११॥

१२. धर्म भावना

धर्म स्वभाव आप सरधान, धर्म न शील नन्हौन न दान,
"बुधजन" गुरु की सीख विचार, गहो धर्म आपन सुखकार ॥१२॥

अर्थ :—हे जीव ! निज स्वभाव का श्रद्धान करना ही धर्म है। धर्म न तो बाह्य शीलादि पालने मे है,न स्नान करने मे है और न दानादि देने मे है। हे बुधजन ! तुम श्री गुरु के इस उपदेश पर विचार करो और निज स्वरुप का निर्णय करके आत्मधर्म को ग्रहण करो।

भावार्थ :—अतत्त्व श्रद्धान रहित निश्चय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही साररुप धर्म है। व्यवहार रत्नत्रय वह पर-मार्थ से धर्म नही है। जब जीव निश्चय रत्नत्रय रुप धर्म को स्व आश्रय द्वारा प्रगट करता है तभी वह स्थिर, अक्षय सुख प्राप्त करता है। इस प्रकार चिन्तवन करके सम्यग्दृष्टि जीव स्वोन्मुखता द्वारा शुचि की वृद्धि बारम्बार करता है।—वह "धर्म भावना" है ॥१२॥

—०—

दूसरी ढाल

संसार-दुःख वर्णन

सुन रे जीव कहत हूँ तोको, तेरे हित के काजे।
हो निश्चल मन जो तू धारे तब कुछ इक तोहि लाजे ॥
जिस दुख से थावर तन पायो, वरन सको सो नाही।
अठदश बार मरो अरु जीयो, एक स्वास के माहीं ॥१॥

अर्थ :—हे जीव ! ध्यान पूर्वक सुन, तेरे हित के लिये तुझको कहता हूँ। जो यह हित की बात स्थिर चित्त होकर तू अब धारण करेगा तो तुझे कुछ तो लज्जा आवेगी कि अरे ! अभी तक यह मैंने क्या किया ? अज्ञान से मैं कितना दुःखी हुआ। एकेन्द्रिय स्थावर

शरीर धारण कर जो अत्यन्त दु ख भोगे—उसे शब्दो मे वर्णन किया जा सके—ऐसा नही है। एक स्वास मे अठारह बार तो तू जन्मा और मरा ॥१॥

काल अनन्तानन्त रहो यो पुनि विकलत्रय हूवो।
बहुरि असैनी निपट अज्ञानी छिन छिन जीओ मूवो ॥
ऐसे जन्म गहो करमन वश, तेरो जोर न चालो।
पुन्य उदय सैनी पशु हूवो, बहुत ज्ञान नहिं भालो ॥२॥

अर्थ·—हे जीव ! इस प्रकार तू अनन्तानन्त काल पर्यन्त एकेन्द्रिय पर्याय मे रहा, पश्चात कभी दो इन्द्रियादि विकलत्रय पर्याय वाला हुआ, कदाचितपचेन्द्रिय पर्याय भी पाई तो असज्ञी महा अज्ञानी रहा और क्षण-क्षण मे जन्म-मरण किया। इस प्रकार अज्ञान से कर्मोदय वश होकर तूने अनन्त जन्म धारण किये, वहाँ तेरा कुछ पुरुषार्थ नहीं हो सका , पश्चात पुण्योदय से कदाचित सज्ञी पशु भी हुआ तो भी वहाँ तू भेदज्ञान प्राप्त नही कर सका ॥२॥

जबर मिलो तब तोहि सतायो, निबल मिलो ते खायो।
मात त्रिया सम भोगी रे पापी, तातें नरक सिधायो ॥
कोटिन बिच्छू काटत जैसे, ऐसी भूमि तहाँ है।
रुधिर राध जल छार बहे जहाँ, दुर्गन्ध निपट तहाँ है ॥३॥

अर्थ .—हे जीव ! तुझ से बलवान पशुओ ने तुझे सताया और निर्बल मिला तो तूने उसे मारकर खाया। पशु दशा मे तूने माता को स्त्री समान भोगा, इसलिये तू पापी होकर नरको मे जा पडा। जहाँ की भूमि ऐसी कठोर है कि उसका स्पर्श होते ही मानो करोडो बिच्छू काटते हो-ऐसा दु ख होता है और जहाँ अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त सड़े लोहू से भरी खारे जल जैसी वैतरणी नदी बहती है ॥३॥ (याद रहे जीवों को दु:ख होने का मूल कारण तो उनकी शरीर के साथ ममता तथा एकत्व बुद्धि ही है; धरती का स्पर्श आदि तो मात्र निमित्त कारण है।)

घाव करै असिपत्र अंग मे, शीत उष्ण तन गाले।
कोई काटे करवत कर गह, पावक मे परजाले॥
यथायोग सागर थिति भुगते, दुख को अन्त न आवे।
कर्म विपाक इसी ही होवे, मानुष गति तव पावै॥४॥

अर्थ —नरक मे असिपत्र अग पर पडते ही घाव कर देते हैं। अत्यधिक शीत एव प्रचन्ड गर्मी देह को गला देती है। कोई नारकी दूसरे नारकी को पकडकर करौंत से काट डालते हैं और अग्नि में जला देते है। आयु वन्धन वश सागरोपम की स्थिति पर्यन्त इस प्रकार के महादुखो को भोगते पार नही आता-वहाँ कर्म का विपाक ऐसा ही होता है। उसे पूर्णकर कदाचित मन्द कषाय अनुसार शुभकर्म का विपाक होने पर कोई नारकी नरक मे से निकलकर मनुष्यगति प्राप्त करता है॥४॥

मात उदर मे रहो गेंद हो, निकसत ही विललावे।
डम्भा दान्त गला विष फोटक, डाकिन से बच जावे॥
तो यौवन में भामिन के सग, निशि दिन भोग रचावे।
अन्धा हो धन्धे दिन खोवै, बूढा नाड़ हिलावे॥५॥

अर्थ —मनुष्यगति मे भी माता के गर्भ मे सकुचित होकर गेन्द की तरह नव मास तक रहता है और पीछे जन्मते समय त्रास से बिललाता है। वालकपन मे अनेक प्रकार के रोग जहरीले फोडे चेचक दान्त गले आदि के रोग आदि से कदाचित बच जावे तो जवानी मे निशदिन पत्नी के साथ भोग विलास मे ही मग्न रहता है नये-नये भोग रचाता है और व्यापार धन्धो मे अन्धा होकर जिन्दगी व्यतीत कर देता है। जब वृद्ध हो जाता है तब मस्तक आदि अग कांपने लग जाते हैं— इस प्रकार मूढ मोही जीव आत्मा के हित का उपाय किये बिना मनुष्य भव व्यर्थ ही गवा देता है॥५॥

यम पकड़े तब जोर न चाले, सैन हि सैन बतावै।
मन्द कषाय होय तो भाई, भवनत्रिक पद पावै॥

पर को सम्पत्ति लखि अति झूरे, कै रति काल गमावै।
आयु अन्त माला मुरझावै, तब लाख लखि पछतावै ॥६॥

अर्थ —जब मरण काल आ उपस्थित हो तब इस जीव का कुछ भी जोर नही चलता, बोल भी नही सकता, अत मन की बात इशारा कर-करके बतलाता है। इस प्रकार कुमरण भाव से मरकर जो मन्द कषाय रुप भाव हो तो भवनवासी-व्यन्तर या ज्योतिषी-इन हलकी जाति के देवो मे उत्पन्न होता है। वहाँ अन्य दूसरे बडे वैभवमान देवो की सम्पदा देखकर खूब झूरता है। अथवा विषय क्रीडा रुप रति मे ही काल गवाता है। आयु का अन्त आने पर उस देव की मन्दारमाला मुरझाने लगती है, उसे देखकर वह जीव बहुत ही पछताता है ॥६॥

तहं तै चय कर थावर होता, रुलता काल अनन्ता।
या विध पंच परावर्तन दे, दुख को नाहीं अन्ता॥
काललब्धि जिन गुरु किरपा से, आप आपको जाने।
तब ही बुधजन भवदधि तिरके, पहुँच जाय शिव थाने ॥७॥

अर्थ ·—और वह देव आर्त्तध्यान पूर्वक देवलोक से चयकर स्थावर हो जाता है। इस प्रकार अज्ञान से ससार मे भ्रमते-भ्रमते जीव ने अनन्त काल पर्यन्त पच परावर्तन किया और अनन्त दु ख पाया। निज काल लब्धि रूप सुसमय आने पर जिन गुरु की कृपा से जब आत्मा स्वय अपना स्वरूप जानले, मानले और अनुभव करले तब वह जीव भव समुद्र से तिर कर निर्वाण रुप सिद्धपद मे पहुच जाता है जहाँ शाश्वत सुखी रहता है ॥७॥

सार

ससार की कोई भी गति सुखदायक नही है। निश्चय सम्यग्दर्शन से ही पच परावर्तन रुप ससार परित होता है। अन्य किसी कारण से दया, दानादि के शुभराग से ससार नही टूटता। कोई भी सयोग सुख दु:ख का कारण नही है, किन्तु पर के साथ एकत्वबुद्धि कर्त्ताबुद्धि, शुभराग से धर्म होता है, शुभराग हितकर है—ऐसी मान्यता ही एकमात्र दु ख का कारण है। सम्यग्दर्शन सुख का कारण है।

दूसरी ढाल का सारांश

तीन लोक मे जो अनन्त जीव हैं वे सब सुख चाहते हैं और दु.ख से डरते हैं। किन्तु अपना यथार्थ स्वरुप समझे तभी सुखी हो सकते हैं। मिथ्यात्व भाव ही दु ख का कारण है किन्तु भ्रमवश होकर कैसे-कैसे सयोग के आश्रय से विकार करता है वह सक्षेप मे कहा है।

त्रियंच गति के दु.खो का वर्णन—यह जीव निगोद मे अनन्त काल तक रहकर, वहाँ एक श्वास मे अठारह बार जन्म धारण करके अकथनीय वेदना सहन करता है। वहाँ से निकलकर अन्य स्थावर पर्यायें धारण करता है। त्रस पर्याय तो चिन्तामणि रत्न के समान अति दुर्लभता से प्राप्त होती है वहाँ भी विकलत्रय शरीर धारण कर के अत्यन्त दु ख सहन करता हैं। कदाचित असज्ञी पन्चेन्द्रिय हुआ तो मन बिना दु ख प्राप्त करता है। सज्ञी हो तो वहाँ भी निर्बल प्राणी बलवान प्राणी द्वारा सताया जाता है। बलवान जीव दूसरो को दुख देकर महान पाप का बध करते है और छेदन-भेदन, भूख-प्यास, शीत-उष्णता आदि के अकथनीय दु खो को प्राप्त होते है।

नरक गति के दु'खों का वर्णन'—जब कभी अशुभ पाप परिणामों से मृत्यु प्राप्त करते हैं तब नरक मे जाते हैं। वहाँ की मिट्टी का एक कण भी इस लोक मे आ जाये तो उसकी दुर्गन्ध से कई कोसो के सज्ञी पचेन्द्रिय जीव मर जायें। उस धरती को छूने से भी असह्य वेदना होती है। वहाँ वैतरणी नदी, सेमलवृक्ष, शीत-उष्णता तथा अन्न जल के अभाव से स्वत महान दु ख होता है। जब बिलो मे औंधे मुँह लटकते हैं तब अपार वेदना होती है। फिर दूसरे नारकी उसे देखते ही कुत्ते की भान्ति उस पर टूट पडते हैं और मारपीट करते हैं। तीसरे नरक तक अम्ब और अम्बरीष आदि नाम के सक्लिष्ट परिणामी असुर कुमार देव जाकर नारकियो को अवधिज्ञान द्वारा पूर्व भवो के विरोध का स्मरण कराके परस्पर लडवाते है। तब एक दूसरे के द्वारा कोल्हू मे पिलना, अग्नि मे जलना, आरे से चीरा जाना, कढाई में

उबलना, टुकडे-टुकडे कर डालना आदि अपार दु ख उठाते हैं– ऐसी वेदनाये निरन्तर सहना पडती हैं। तथापि क्षणमात्र साता नही मिलती, क्योंकि टुकडे-टुकडे हो जाने पर भी शरीर पारे की भान्ति पुन. मिलकर ज्यों का त्यो हो जाता है। वहाॅ आयु पूर्ण हुये बिना मृत्यु नही होती। नरक मे ऐसे दु ख कम से कम दस हजार वर्ष तक तो सहना ही पडते हैं, यदि उत्कृष्ट आयु का बध हुआ तो तैंतीस सागरोपम वर्ष तक शरीर का अन्त नही होता।

मनुष्यगति के दु.खो का वर्णन :— किसी विशेष पुण्यकर्म के उदय से यह जीव जब कभी मनुष्य पर्याय प्राप्त करता है तब नौ महीने तक तो माता के उदर मे ही पडा रहता है, वहाँ शरीर को सिकोडकर रहने से महान कष्ट उठाना पडता है। वहाॅ से निकलते समय जो अपार वेदना होती है उसका तो वर्णन भी नही किया जा सकता। फिर बचपन मे ज्ञान बिना, युवावस्था मे विषय भोगो मे आसक्त रहने से तथा वृद्धावस्था मे इन्द्रियो की शिथिलता अथवा मरण पर्यन्त क्षयरोग आदि मे रुकने के कारण आत्मदर्शन से विमुख रहता है और आमोद्धार का मार्ग प्राप्त नही कर पाता।

देवगति के दु खो का वर्णन :— यदि कोई शुभकर्म के उदय से देव भी हुआ, तो दूसरे बडे देवो का वैभव और सुख देखकर मन ही मन मे दु खी होता रहता है। कदाचित् वैमानिक देव भी हुआ, तो वहाँ भी सम्यक्त्व के बिना आत्मिक शान्ति प्राप्त नही कर पाता। तथा अन्त समय मे मन्दार माला मुरझा जाने से, आभूषण और शरीर की कान्ति क्षीण होने से मृत्यु को निकट आया जानकर महान दुःख होता है और आर्त्तध्यान करके हाय-हाय करके मरता है। फिर एकेन्द्रिय जीव तक होता है अर्थात् पुन तिर्यन्च गति मे जा पहुचता है। इस प्रकार चारो गतियो मे जीव को कही भी सुख-शान्ति नही मिलती। इस प्रकार अपने मिथ्यात्व भावो के कारण ही निरन्तर ससारचक्र मे परिभ्रमण करता रहता है।

—०—

तीसरी ढाल

सम्यक्त्व का वर्णन

इस विध भव वन के माहि जीव, वश मोह गहल सोता सदीव।
उपदेश तथा सहजै प्रबोध, तब ही जागै ज्यों उठत जोग ॥१॥

अर्थ—इस प्रकार ससार रूपी वन मे मोह वश पडा जीव बेसुध होकर सदा गहरी निन्द्रा मे सोया हुआ है। परन्तु जब आत्मज्ञानी गुरु के उपदेश से अथवा पूर्व सस्कार के बल से वह मोह निन्द्रा से जागा। जिस प्रकार रण मे मूर्छित हुआ योद्धा फिर से जाग गया हो, उसी प्रकार यह ससारी जीव मोह निन्द्रा दूर करके जाग गया ॥१॥

जब चितवत अपने माहि आप, हूँ चिदानन्द नहीं पुन्य पाप।
मेरो नाहि है राग भाव, यह तो विधि वश उपजै विभाव ॥२॥

अर्थ—आत्मभान करके जब यह ससारी मोही जीव जाग गया तब ही अपने अन्तरग मे अपने स्वरूप का ऐसा चिन्तवन करने लगा कि "मैं चिदानन्द हूँ, पुन्य-पाप मैं नही हूँ, रागभाव भी मेरा स्वभाव नही है, वह तो कर्मवश उत्पन्न हुआ विभाव भाव है" ॥२॥

हूँ नित्य निरजन सिद्ध समान, ज्ञानावरणी आच्छाद ज्ञान।
निश्चय सुध इक व्यवहार भेव, गुणगुणी अंग अगी अछेव ॥३॥

अर्थ :—मैं सिद्ध समान नित्य अविनाशी जीव तत्त्व हूँ, द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म से रहित हूँ। ज्ञानावरणी कर्म के उदय से मेरा ज्ञान अप्रगट है। निश्चय से मैं अतीन्द्रिय महापदार्थ हूँ, गुण-गुणी भेद अथवा अश-अशी भेद आदि सर्वभेद कल्पना तो व्यवहार से है, मैं तो अभेद हूँ ॥३॥

मानुष सुर नारक पशु पर्याय, शिशु युवा वृद्ध बहुरूप काय।
धनवान दरिद्री दास राय, ये तो विडम्ब मुझको न भाय ॥४॥

अर्थ :—तथा मनुष्य-देव नारकी व पशु पर्यायें अथवा बालक,

जवान, वृद्ध इत्यादि अनेक रूप शरीर की ही अवस्थाये हैं तथा धनवानपना, दासपना, राजापना ये सभी औपाधिक भाव विडम्बना है—उपाधि है, वे कुछ भी मुझे प्रिय नही है, मेरे शुद्ध ज्ञायक स्वरूप मे ये कुछ भी शोभता नही ।।४।।

स्पर्श गन्ध वरनादि नाम, मेरे नाहीं मै ज्ञानधाम।
मै एकरूप नहि होत और, मुझ में प्रतिबिम्बित सकल ठौर ।।५।।

अर्थ :—स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण आदि अथवा व्यवहार नाम आदि मेरे नही, ये सभी तो पुद्गल द्रव्य के हैं, मैं तो ज्ञान धाम हूं, मैं तो सदाकाल एकरूप रहने वाला परमात्मा हूँ, अन्यरूप कभी भी नहीं होता। मेरे ज्ञान दर्पण मे तो समस्त पदार्थ प्रतिविम्वित होते है ।।५।।

तन पुलकित उर हरषित सदीव, ज्यो भई रंकगृह निधि अतीव।
जब प्रबल अप्रत्याख्यान थाय, तब चित परिणति ऐसी उपाय ।।६।।

अर्थ :—ऐसा भेदविज्ञान पूर्वक सम्यक् श्रद्धान होने पर जीव सदा ही अतिशय प्रसन्न होता है, आनन्दित होता है। हृदय में निरन्तर हर्ष वर्तने से शरीर भी पुलकित हो जाता है। जिस प्रकार दरिद्री के घर मे अत्यधिक धन-निधि के प्रगट होने पर वह प्रसन्न होता है; उसी प्रकार यह सम्यग्दृष्टि जीव अन्तर मे निजानन्द मूर्ति भगवान आत्मा को देखकर प्रसन्न होता है। ऐसा सम्यक्दर्शन हो जाने पर जब तक अप्रत्याख्यान कषाय की प्रबलता रूप उदय रहता है तब तक उस सम्यग्दृष्टि की चित्त परिणति कैसी होती है—उसे अब यहाँ पर कहते हैं ।।

सो सुनो भव्य चितधार कान, वरणत हूं ताकी विधि विधान।
सब करै काज घर माहि वास, ज्यो भिन्न कमल जल मे निवास ।।७।।

अर्थ :—हे भव्य जीवो ! तुम चित्त लगाकर उस भेद-विज्ञानी की परिणति को सुनो। उस अविरत सम्यक्दृष्टि के विधि-विधान का मैं वर्णन करता हूँ। स्वानुभव बोध का जिसे लाभ हुआ है। ऐसा वह जीव घर कुटुम्ब के बीच मे रहता है तथा सभी गृहकार्य, व्यापार

आदि भी करता दिखाई देता है, परन्तु जैसे जल मे कमल का वास होने पर भी वह जल से भिन्न अलिप्त रहता है; उसी प्रकार गृहवास मे रहता होने पर भी धर्मी जीव उस घर, कुटम्ब, व्यापार आदि से भिन्न—अलिप्त एव उदास रहता है ॥७॥

ज्यों सती अग माहीं सिगार, अतिकरत प्यार ज्यो नगर नारि ।
ज्यो धाय लडावत अन्य बाल, त्यों भोग करत नाहीं खुशाल ॥८॥

अर्थ :—जैसे शीलवान स्त्री के शरीर का श्रृंगार पर पुरुष के प्रति राग के लिए नही होता । जैसे वेश्या अतिशय प्रेम दिखाती है, परन्तु वह अन्तरग का प्रेम नही होता । और जैसे धाय माता अन्य दूसरे के बालक को दूध पिलाती है, परन्तु अन्तरग मे वह धाय उस बालक को पराया ही जानती है; ठीक उसी प्रकार सम्यक् दृष्टि जीव ससार के भोगो को भोगता हुआ दीखता है, तथापि उसे उन भोगो मे खुशी नही, उनमे वह सुख मानता नही, उनसे तो वह अन्तरग श्रद्धान मे विरक्त ही है ॥८॥

जब उदय मोह चारित्र भाव, नहिं होत रंच हू त्याग भाव ।
तहाँ करै मन्द खोटी कषाय, घर मे उदास हो अथिर थाय ॥९॥

अर्थ :—जब तक उसे चारित्र मोह रूप कर्म प्रकृति का तीव्र उदय रहता है तब तक वह जीव रच मात्र भी त्याग भावरूप व्रत धारण नही कर सकता है । परन्तु वह अशुभ रूप कषायो को शुभ-भाव रूप करता है और वह अस्थिरपनेवश उदास चित्त वाला होकर घर मे रहता हुआ दिखता है ॥९॥

सब की रक्षा युत न्याय नीति, जिन शासन गुरु को द्रढ़ प्रतीति ।
बहु रुले अर्द्ध पुद्गल प्रमाण, अन्तर मुहूर्त ले परम धाम ॥१०॥

अर्थ :—और वह सम्यक् दृष्टि जीव सभी जीवो की रक्षा सहित न्याय नीति से प्रवर्त्तता है, सर्वज्ञ भगवान के उपदेश को एव सच्चे गुरु की द्रढ़ प्रतीति करता है । यदि सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो जावे तो वह अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गल परावर्तन प्रमाण काल तक

ससार मे रह सकता है और यदि उग्र पुरुषार्थ साधे तो शीघ्र ही अन्तर मुहूर्त मात्र काल मे परमधाम रूप निर्वाण सुख को प्राप्त कर लेता है ॥१०॥

वे धन्य जीव धन भाग सोय, जाके ऐसी परतीत होय।
ताकी महिमा है स्वर्ग लोय, 'बुधजन' भाषे मोसे न होय ॥११॥

अर्थ :—जिसे सम्यक्‌दर्शन हुआ है, वे जीव धन्य है, वही धन्य भाग्य हैं। स्वर्गलोक मे भी उनकी प्रशसा होती है, ज्ञानी जन भी उनकी प्रशसा करते हैं। परन्तु बुधजन कवि कहते हैं कि मुझ से तो ऐसे आत्मज्ञानी सम्यक् दृष्टि जीव का वर्णन शब्दो मे नही हो सकता है ॥११॥

तीसरी ढाल का सारांश

आत्मा का कल्याण सुख प्राप्त करने मे है। आकुलता का मिट जाना वह सच्चा सुख है, मोक्ष ही सुखरूप है, इसलिये प्रत्येक आत्मार्थी को मोक्षमार्ग मे प्रवृत्ति करनी चाहिए। निश्चय सम्यक्-दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यग्चारित्र—इन तीनो की एकता ही मोक्षमार्ग है। उसका कथन दो प्रकार से है। निश्चय सम्यक्‌दर्शन-ज्ञानचारित्र तो वास्तव मे मोक्षमार्ग है और व्यवहार सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान-चारित्र वह मोक्षमार्ग नही है, किन्तु वास्तव मे बन्धमार्ग है। लेकिन निश्चय मोक्षमार्ग मे निमित्त व सहचारी होने से उसे व्यवहार मोक्षमार्ग कहा जाता है। जो विवेकी जीव निश्चय सम्यक्त्व को धारण करता है उसे जब तक निर्बलता है तब तक पुरुषार्थ की मन्दता के कारण यद्यपि किंचित् सयम नही होता, तथापि वह इन्द्रादि के द्वारा पूजा जाता है। तीनलोक और तीनकाल मे निश्चय सम्यक्त्व के समान सुखकारी अन्य कोई वस्तु नही है। सर्व धर्मो का मूल, सार तथा मोक्षमार्ग की प्रथम सीढी यह सम्यक्त्व ही है। सम्यक्त्व के बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्‌पने को प्राप्त नही होते किन्तु मिथ्या कहलाते हैं। इसलिये प्रत्येक आत्मार्थी को सत शास्त्रो का स्वाध्याय,

तत्त्वचर्चा, सत्समागम तथा यथार्थ तत्त्व विचार द्वारा निश्चय सम्यक्‌दर्शन प्राप्त करना चाहिये, क्योकि यदि इस मनुष्यभव में निश्चय सम्यक्त्व प्राप्त नही किया तो पुन मनुष्य पर्याय को प्राप्ति आदि का नुयोग मिलना कठिन है ॥

—०—

चौथी ढाल

सम्यग्दर्शन के गुणो का वर्णन

ऊग्यो आतमसूर, दूर भयो मिथ्यात तम।
अब प्रगटो गुण भूर, तिनमे कछु इक कहत हैं ॥१॥

अर्थ :—सम्यक्त्व होते ही आत्मारूपी सूर्य उदित हो गया और मिथ्यात्व रूपी अन्धकार दूर हुआ, वही पर अनन्त गुणो का समूह भगवान आत्मा भी प्रगट हो गया, उनमे से कुछ एक गुणो को यहाँ पर कहता हूँ ॥११॥

शका मन मे नाँहि, तत्त्वारथ सरधान में।
निरवाछित चित माँहि, परमारथ मे रत रहै ॥२॥
नेक न करत गिलान, वाह्य मलिन मुनि तन लखे।
नाहीं होत अजान, तत्त्व कुतत्त्व विचार में ॥३॥
उर मे दया विशेष, गुण प्रकटै औगुण ढके।
शिथिल धर्म मे देख, जैसे तैसे द्रढ करै ॥४॥
साधर्मी पहिचान, करै प्रीति गोवत्स सम।
महिमा होत महान, धर्म काज ऐसे करै ॥५॥

अर्थ :—ऐसे आत्मज्ञानी जीव के मन मे कभी भी (१) तत्त्वार्थ श्रद्धान मे शका नही होती, मुक्ति मार्ग साधने मे रत रहते हैं। (२) चित्त मे दूसरी अन्य कोई वाछा नही होती है। (३) मुनिजनों के देह की मलिनता देखकर जरा भी ग्लानि नही करते हैं। (४) तत्त्व और कुतत्त्व के निर्णय मे मूर्ख नही रहते हैं। (५) अन्तर

हृदय मे सर्व जीवों के प्रति विशेष दया रुप कोमल परिणाम रहता है, धर्मात्मा के गुणो को प्रसिद्ध करते हैं तथा अवगुणो को ढाँकते हैं। (६) धर्मात्मा जीवो को धर्म मे शिथिल होता जाने तो हर सम्भव उपाय के द्वारा उन्हे मोक्षमार्ग मे स्थिर करते हैं। (७) साधर्मी बन्धुओं को देखकर उनके प्रति गौ वत्स समान प्रीति करते हैं। (८) ऐसे सभी धर्म कार्यों को करते है कि जिससे धर्म की अतिशय महिमा प्रसिद्ध हो—इत्यादि प्रमाण सहित सम्यक्त्व होनें पर नि शकितादि आठ गुण तत्काल प्रगट हो जाते हैं ।।२-५।।

मदनहि जो नृप तात, मदनहि भूपति माम को।
मदनहि विभव लहात, मद नहि सुन्दर रुप को ।।६।।
मद नहि जो विद्वान, मद नहि तन मे जोर को।
मद नहि जो परधान, मद नहि सम्पत्ति कोष को ।।७।।
हूओ आतम ज्ञान, तज रागादि विभाव पर।
ताको ह्वय क्यो मान, जात्यादिक वसु अथिर का ।।८।।

अर्थ —सम्यक्दृष्टि जीव का (१) पिता राजा होय तो उसका भी कुलमद नही होता है। (२) मामा राजा होय तो उसका भी जातिमद नही होता है। (३) वैभव धन-ऐश्वर्य की प्राप्ति होने का भी मद नही होता है। (४) सुन्दर रुप लावण्य का भी मद नहीं होता है। (५) ज्ञान का भी मद नही होता है। (६) शरीर में विशेष ताकत बल होय उसका भी मद नही होता है। (७) लोक में कोई मुखिया प्रधान पद वगैरह अधिकार का भी मद नही होता है। (८) धन-सम्पति कोष का भी मद नही होता है। जिससे रागादि विभाव भावो को छोडकर उनसे भिन्न आत्मा का ज्ञान प्रगट किया है उसको जाति आदि आठ प्रकार की अस्थिर नाशवान वस्तुओ का मद कैसे हो सकता है ? कभी भी नही हो सकता है। इस तरह से सम्यग्दृष्टि जीव को आठ प्रकार के मदो का अभाव वर्तता है ।।६-८।।

बन्दत हैं अरिहन्त, जिन मुनि जिन सिद्धान्त को।
न नवे देख महन्त, कुगुरु कुदेव कुधर्म को ॥९॥

अर्थ :—सम्यग्दृष्टि जीव अरिहन्त जिनदेव, जिन मुद्राधारी मुनि और जिन सिद्धान्त को ही वन्दन करता है, परन्तु कुदेव, कुगुरु, कुधर्म को चाहे वे लोक मे कितने ही महान दिखाई देते हो तो भी उन्हें वन्दन नही करता है—इस प्रकार ज्ञानी जीव को तीन मूढताओ का अभाव होता ही है ॥९॥

कुत्सित आगम देव, कुत्सित गुरु पुनि सेवकी।
प्रशंसा यो षट भेव, करैं न सम्यक वान हैं ॥१०॥

अर्थ —सम्यग्दृष्टि जीव कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, कुगुरु सेवक, कुदेव सेवक तथा कुधर्म सेवक—यह छह अनायतन दोष कहलाते हैं। उनकी भक्ति-विनय और पूजनादि तो दूर रही, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव उनकी प्रशसा भी नही करता, क्योकि उनकी प्रशसा करने से भी सम्यक्त्व मे दोष लगता हैं।—इस प्रकार शकादि आठ दोष, आठ मद, तीन मूढता और छह अनायतन—ये पच्चीस दोष जिसमे नही पाये जाते—वह जीव सम्यग्दृष्टि है ॥१०॥

प्रगटो ऐसो भाव कियो अभाव मिथ्यात्व को।
बन्दत ताके पाँय, 'बुधजन' महै मन वच कायतैं ॥११॥

अर्थ —जिस जीव ने ऐसा निर्मल भाव प्रगटाया है और मिथ्यात्व का अभाव किया है—उस ज्ञानी के चरणो की मैं (बुधजन) मन-वचन-काया स वन्दना करता हूँ ॥११॥

चौथी ढाल का सारांश

आठ मद, तीन मूढता, छह अनायतन और शकादि आठ—ये सम्यक्त्व के पच्चीस दोष है। तथा नि शकितादि आठ सम्यक्त्व के गुण है। उन्हे भली भान्ति जानकर दोष का त्याग और गुणो का ग्रहण करना चाहिये।

पांचवी ढाल

श्रावक के १२ व्रतों का वर्णन

तिर्यंच मनुज दोई गति मे, व्रत धारक श्रद्धा चित मे
सो अगलित नीर पीवै, निशि भोजन तजत सदीवै ॥१॥

अर्थ :—सम्यदर्शन सहित व्रत धारण करने वाले सयमी जीव तिर्यंच और मनुष्य इन दो गति मे ही होते हैं। वे अणुव्रत धारी श्रावक बिना छना हुआ पानी नही पीते और रात्रि भोजन भी सदा के लिये छोड देते हैं ॥१॥

मुख अभक्ष वस्तु नहि लावे, जिन भक्ति त्रिकाल रचावै।
मन वच तन कपट निवारै, कृत कारित मोद संवारे ॥२॥

अर्थ —मुख मे कभी भी अभक्ष वस्तु नही लाते, सदैव जिनेन्द्र देव की भक्ति मे अपने को लीन रखते है, मन-वचन काया से मायाचारी छोड देते है और पाप कार्यो को न स्वय करता है, न कराता है और न उनकी अनुमोदना करता है ॥२॥

जैसी उपशमत कषाया, तैसा तिन त्याग कराया।
कोई सात व्यसन को त्यागै, कोई अणुव्रत में मन पागै ॥३॥

अर्थ —उस आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि को जितनी-जितनी कषायें उपशमती जाती हैं, उतने-उतने प्रमाण मे उसको हिंसादि पापो का त्याग होता जाता है। कोई-कोई तो सात व्यसन का सर्वथा त्याग कर देते हैं और कोई-कोई अणुव्रत धारण करके शुभाशुभभावो से रहित तप मे लग जाते है ॥३॥

त्रस जीव कभी नहि मोरे, विरथा थावर न संहारै।
परहित बिन झूठ न बोले, मुख सांच बिना नहि खोले ॥४॥

अर्थ :—ऐसे श्रावक त्रस जीवो को कभी नही मारते और स्थावर जीवो का भी निष्प्रयोजन कभी भी सहार नही करते। पर हित

सिवाय कभी झूठ नही बोलते (अर्थात् कदाचित किसी धर्मात्मा से कोई दोष हो गया होय उसे बचाने के लिए अथवा कोई निरपराधी फस रहा होय निकालने के लिये—इन प्रसगो के सिवायवह कभी झूठ नही बोलते) और सत्य सिवाय कभी भी मुख नही खोलते ॥४॥

जल मृतिका बिन धन सब हू, बिन दिये न लेवे कबहू ।
ब्याही वनिता बिन नारी, लघु बहिन बड़ी महतारी ॥५॥

अर्थ :—जिनकी मनाई नही—ऐसा पानी व मिट्टी के सिवाय दूसरी कोई भी वस्तु जो उसे दी नहीं गई हो कभी भी लेता नही है। अपनी विवाहिता नारी के अलावा अन्य दूसरी लघुवय स्त्रियो को बहिन समान एव अपने से बडी स्त्रियो को माता समान समझता है ॥५॥

तृष्णा का जोर संकोचै, ज्यादा परिग्रह को मोचै ।
दिश की मर्यादा लावै, बाहर नहिं पांव हिलावै ॥६॥

अर्थ .—वह श्रावक विषय पदार्थों के प्रति उत्पन्न होने वाली जो तृष्णा उसके जोर को सकोचता है, ममता को घटाकर अधिक परिग्रह को छोड देता है, परिग्रह का प्रमाण कर लेता है। दिशाओ मे गमन करने की अथवा किसी को बुलाने, लेन-देन आदि करने की मर्यादा कर लेताहै और मर्यादा से बाहर पग भी नही निकालता है ॥६॥

ताहू मे गिरि पुर सरिता, नित रहत पाप से डरता ।
सब अनरथ दड न करता, छिन छिन जिन धर्म सुमरता ॥७॥

अर्थ —पाप से डरने वाला श्रावक दिग्व्रत मे निश्चित की हुई मर्यादा मे भी पर्वत, नगर, नदी आदि तक गमनादि-व्यापारादि करने की मर्यादा कर लेता है तथा किसी भी प्रकार का अनर्थ दड (खोटा पाप निष्प्रयोजन हिसादि) नही करता एव प्रतिक्षण जिन धर्म का स्मरण करता रहता है ॥७॥

द्रव्य क्षेत्र काल सुध भावै, समता सामायिक ध्यावै ।
यो वह एकाकी हो है, निष्किंचन मुनि ज्यों सोहै ॥८॥

अर्थ —वह श्रावक द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की शुद्धि पूर्वक समतारूप सामायिक को ध्याता है । अष्टमी, चतुर्दशी प्रोषध उपवास के दिन एकान्त मे रहता है और निष्परिग्रही मुनि समान शोभता है ॥८॥

परिग्रह परिमाण विचारै, नित नेम भोग का धोरे ।
मुनि आवन बेला जावै, तब योग असन मुख लावै ॥९॥

अर्थ —वह श्रावक परिग्रह की मर्यादा का विचार करता है और भोग-उपभोग की मर्यादा का भी हमेशा नियम करता है । मुनिवरो को प्रतिदिन आहार दान देने की भावना भाता है और जब मुनिवरो के आहार का अर्थ आने का समय बीत जावे तब ही स्वयं योग्य शुद्ध भोजन करता है ॥९॥

वे उत्तम किरिया करता, नित रहत पाप से डरता ।
जब निकट मृत्यु निज जाने, तब ही सब ममता भाने ॥१०॥

अर्थ —इस प्रकार धर्मी श्रावक सदा ही उत्तम कार्य करता है और पाप से सदा ही डरता रहता है । तथा जब मरण का काल समीप आया जानता है, तब तत्काल समस्त परिग्रह की ममता को छोड देता है ॥१०॥

ऐसे पुरुषोत्तम केरा, 'बुधजन' चरणो का चेरा ।
वे निश्चय सुरपद पावै, थोड़े दिन मे शिव जोवें ॥११॥

अर्थ —बुधजन कहते हैं कि हम तो ऐसे उत्तम पुरुषो के चरणो के दास हैं । वे धर्मात्मा श्रावक तो नियम से देव होकर अल्पकाल मे ही मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं ॥११॥

पांचवीं ढाल का सारांश

सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके फिर सम्यग्चारित्र प्रगट करना चाहिये। वहां सम्यग्चारित्र की भूमिका मे जो कुछ भी राग रहता है वह श्रावक को अणुव्रत और मुनि को पच महाव्रत के प्रकार का होता है, उसे वे पुण्य मानते हैं। जो श्रावक निरतिचार समाधिमरण को धारण करता है। वह समतापूर्वक आयु पूर्ण होने से योग्यतानुसार सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है, और वहाँ से आयु पूर्ण होने पर मनुष्य पर्याय प्राप्त करता है, फिर मुनिपद प्रगट करके मोक्ष मे जाता है। इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्र का पालन करना प्रत्येक आत्मार्थी जीव का कर्तव्य है। निश्चय सम्यक्चारित्र ही सच्चा चारित्र है-ऐसी श्रद्धा करना तथा उस भूमिका मे जो श्रावक और मुनिपने के विकल्प उठते हैं, वह सच्चा चारित्र नही है किन्तु चारित्र मे होने वाला दोष है। परन्तु साधक को अपनी-अपनी भूमिका मे वैस. राग आये बिना नही रहता और उस सम्यक् चारित्र मे ऐसा राग नि मत्त व सहचारी होता है इसलिये उमे व्यवहार चारित्र कहा जाता है। व्यवहार सम्यक चारित्र को सच्चा सम्यक् चारित्र मानने की श्रद्धा छोड देना चाहिये।

—०—

छठवीं ढाल

मुनिदशा, केवल ज्ञान और मोक्ष का वर्णन

अथिर ध्याय पर्याय, भोग ते होय उदासी;
नित्य निरन्जन जोति, आतमा घट मे भासी।
सुत दारादि बुलाय, सर्व तैं मोह निवारा;
त्याग शहर धन धाम, वास वन बीच विचारा ॥१॥

अर्थ :—सम्यग्दृष्टि जीव को नित्य निरन्जन चैतन्य ज्योति

स्वरूप आत्मा अपने अन्तरग मे प्रगट भाषित हुआ है, वह देह पर्याय को अस्थिर नाशवान समझकर ससार-शरीर भोगो से उदासीन हो जाता है। वह स्त्री-पुत्रादि को धर्म सम्बोधन करके समस्त चेतन अचेतन परिग्रह के प्रति मोह ममत्व छोड देता है और नगर-धन-मकानादि सब परिग्रह छोडकर वन के बीच एकान्त निर्जन वन मे वास करने का विचार दृढ कर लेता है ॥१॥

भूषण बसन उतार, नगन ह्वय आतम चीना;
गुरु तट दीक्षा धार, सीस-कचलौंच जो कीना।
त्रस थावर का घात, त्याग मन वच तन लीना;
झूठ वचन परिहार, गहै नहिं जल बिन दीना ॥२॥

अर्थ :—पश्चात वह विरागी श्रावक श्री निर्ग्रन्थ गुरु के पास जाकर समस्त आभूषण एव वस्त्र उतारकर नग्न दिगम्बर वेष धारण कर दीक्षा लेकर केशलौच करके आत्म ध्यान मे मग्न हो जाता है। समस्त त्रस-स्थावर जीवो की हिंसा का मन-वच-काया से त्यागकर देता है, मिथ्या वचनादि बोलने का भी त्यागकर देता है तथा बिना दिया हुआ पानी भी नही लेता है ॥२॥

चेतन जड़ तिय भोग, तजो भव-भव दुखकारा;
आकंचुकि ज्यो जान, चित्त ते परिग्रह डारा।
गुप्ति पालने काज, कपट मन वच तन नाहीं।
पाँचो समिति सवार परिषह सहि हो आहीं ॥३॥

अर्थ —तथा सर्व प्रकार की चेतन व अचेतन स्त्रियो के उपभोग को भव-भव मे दु खकारी जानकर छोड दिया है। तथा चित्त मे निर्ममत्व होकर सर्प की काँचली के समान सर्व प्रकार के परिग्रह को भी भिन्न जानकर छोड दिया है। त्रिगुप्ति के पालने के लिए मन-वचन-काया से कपट भाव छोड दिया है। ईर्या-भाषा-एषणा-आदान निक्षेपण तथा प्रतिष्ठापन—इन पाँच समिति के पालने मे सावधान हो वर्तन करते हैं और बाईस प्रकार के परिषहजयो को सहन करने लगे ॥३॥

छोड़ सकल जंजाल, आपकर आप आप में;
अपने हित को आप, करो है शुद्ध-जाप मे।
ऐसी निश्चल काय, ध्यान मे मुनि जन केरी॥
मानो पत्थर रची, किधो चित्राम उकेरी॥४॥

अर्थ :—और कैसे हैं वे मुनिराज ? सकल जगजाल को छोड़कर उन्होने अपने द्वारा अपने को अपने मे ही एकाग्र किया है। अपने स्वयं हित के लिए अपने स्वय का ध्यान स्वय ने शुद्ध किया है अर्थात् शुद्धात्मा का ध्यान करके निज स्वरूप मे ही लीन हुए हैं। अहा ! शुद्धोपयोग ध्यान मे लीन मुनिराज का शरीर भी ऐसा स्थिर हुआ है कि मानो पत्थर की मूर्ति अथवा चित्र ही हो। इस प्रकार अडौलपने द्वारा आत्म ध्यान मे एकाग्र हैं॥४॥

चार घातिया नाश, ज्ञान मे लोक निहारा;
दे जिनमत उपदेश, भव्य को दुखते टारा।
बहुरि अघाती तोड़, समय मे शिवपद पाया;
अलख अखंडित जोति, शुद्ध चेतन ठहराया॥५॥

अर्थ :—इस प्रकार शुद्धात्म ध्यान द्वारा चार घाति कर्मों का घात करके केवलज्ञान मे लोकालोक को जान लिया और केवलज्ञान के अनुसार उपदेश देकर भव्य जीवो को दु ख से छुडाया अर्थात् मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया। पश्चात चार अघाति कर्मों का भी नाश करके एक समय मात्र मे सिद्धपद प्राप्त किया तथा इन्द्रिय ज्ञान से जो जानने मे नही आता ऐसा अलख अतीन्द्रिय अखड आत्म-ज्योति शुद्ध चेतना रूप होकर स्थिर हो गई॥५॥

काल अनन्तानन्त, जैसे के तैसे रहि हैं;
अविनाशी अविकार, अचल अनुपम सुख लहि हैं।
ऐसी भावना भाय, ऐसे जे कारज करि हैं;
ते ऐसे ही होय, दुष्ट करमन को हरि हैं॥६॥

अर्थ—ऐसी सिद्ध दशा को प्राप्त करके वह जीव अनन्तानन्त काल

पर्यन्त ऐसे के ऐसे रहता है तथा अविनाशी, अविकार, अचल, अनुपम सुख का निरन्तर अनुभव किया करता है। जो कोई भव्यजीव ऐसी आत्म भावना भाकर श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का कार्य करते हैं, वे भी इस अनुपम अविनाशी सिद्ध पद को प्राप्त करते है और दुष्ट कर्मों को नाश कर देते हैं ॥६॥

जिनके उर विश्वास, वचन जिन शासन नाहीं;
ते भोगातुर होय, सहैं दुख नरकन माहीं।
सुख दुख पूर्व विपाक, अरे मत कल्पै जीया;
कठिन कठिन ते मित्र, जन्म मानुष का लिया ॥७॥

सो बिरथा मत खोय, जोय आपा पर भाई;
गई न लावै फेर, उदधि मे डूबी राई।
भला नरक का वास, सहित जो समकित पाता;
बुरे बने जो देव, नृपति मिथ्यामत माता ॥८॥

अर्थ —जिन के मन मे जिनशासन के वचनो का अर्थात् सर्वज्ञ भगवान के उपदेश का विश्वास नही है, वह जीव विषय भोगो मे मग्न पश्चात नरको मे दुःख भोगते हैं। ससार मे सुख-दुःख तो पूर्व कर्मों के उदय अनुसार होता है। अत हे जीव ! इससे तू डर मत अर्थात् अन्यथा कल्पना मत कर। उदय मे जो कर्म आया हो उसे सहन कर। हे मित्र ! बहुत ही अधिक कठिनता से यह मनुष्य जन्म तुझे मिला है, इसलिये इसे तू व्यर्थ यो ही विषयो मे मत गवां। हे भाई। इस नर भव मे तू स्व-पर के विवेकरूप भेद विज्ञान प्रगट कर, क्योकि जिस प्रकार समुद्र मे डुबा हुआ राई का दाना पुन मिलना अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार इस दुर्लभ मनुष्य जन्म बीत जाने के बाद पुन. प्राप्त करना कठिन है। सम्यक्त्व की प्राप्ति सहित तो नरकवास भी भला है परन्तु सम्यक्त्व रहित मिथ्यात्व भाव से भरा हुआ जीव देव अथवा राजा भी हो जाय तो भी वह बुरा ही है ॥७-८॥

नहीं खरच धन होय, नही काहू से लरना;
नहीं दीनता होय, नहि घर का परिहरना।
समकित सहज स्वभाव, आपका अनुभव करना,
या विन जप तप वृथा, कष्ट के माही परना॥९॥

अर्थ :—सम्यक्त्व वह तो आत्मा का सहज स्वभाव है, उसमे न तो कुछ धन खर्च होता है और न ही किसी से लडना पड़ता है। न तो किसी के पास दीनता करनी पडती है और न ही घरबार छोडना पडता है। अपना एक रूप त्रिकाली सहज स्वभाव-ऐसे आत्मा का अनुभव करना वही सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के विना जप-तप आदि व्यवहार क्रियारुप आचरण निरर्थक है, कष्ट मे पडना है॥९॥

कोटि बात की बात, अरे "बुधजन" उर धरना,
मन वच तन शुचि होय, गहो जिनमत का शरना।
ठारा सौ पच्चास, अधिक नव सम्वत जानों,
तीज शुक्ल वैशाख, ढाल षष्टम उपजानो॥१०॥

अर्थ :—ग्रन्थ की पूर्णता करते हुए प० बुधजन अन्तिम पद मे कहते हैं कि अरे भव्य आत्माओ बुधजनो! करोड़ो बात की सार रुप यह बात तुम अन्तरग मे धारण करो, मन-वचन-काया की पवित्रता पूर्वक जिन धर्म की शरण ग्रहण करो। ढाल'—इस नाम की शुभ उपमा वाला यह छह पदो की रचना 'छहढाला' सम्वत १८५९ की वैशाख शुदि तीज को समाप्त हुई॥१०॥

—०—

छठवीं ढाल का सारांश

(१) जिस चारित्र के होने से समस्त पर पदार्थों से वृत्ति हट जाती है, वर्णादि तथा रागादि से चैतन्यभाव को पृथक कर लिया जाता है, अपने आत्मा मे, आत्मा के लिये, आत्मा द्वारा, अपने आत्मा का ही अनुभव होने लगता है, वहाँ नय प्रमाण, निक्षेप, गुण-गुणी,

ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय, ध्यान-ध्याता-ध्येय, कर्त्ता-कर्म और क्रिया आदि भेदो का किंचित विकल्प नही रहता, शुद्ध उपयोग रुप अभेद रत्नत्रय द्वारा शुद्ध चैतन्य का ही अनुभव होने लगता है—उसे स्वरुपाचरण चारित्र चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर मुनिदशा मे अधिक उच्च होता है।

(२) तत्पश्चात शुक्ल ध्यान द्वारा चार घाति कर्मो का नाश होने पर वह जीव केवलज्ञान प्राप्त करके १८ दोष रहित श्री अरिहन्त पद प्राप्त करता है। फिर शेष चार अघाति कर्मों का भी नाश करके क्षण मात्र मे मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस आत्मा मे अनन्तकाल तक अनन्त चतुष्टय का एक सा अनुभव होता रहता है। फिर उसे पचपरावर्तन रुप ससार मे नही भटकना पडता। वह कभी अवतार धारण नही करता। सदैव अक्षय अनन्त सुख का अनुभव करता है। अखण्डित ज्ञान-आनन्द रुप अनन्त गुणो मे निश्चल रहता है—उसे मोक्ष स्वरूप कहते हैं।

(३) जो जीव मोक्ष की प्राप्ति के लिये इस रत्नत्रय को धारण करते हैं और करेंगे उन्हे अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति होगी। प्रत्येक ससारी जीव मिथ्यात्व, कषाय और विषयो का सेवन तो, अनादिकाल से करता आया है किन्तु उससे उसे किंचित् शान्ति प्राप्त नही हुई। शान्ति का एक मात्र कारण तो मोक्ष मार्ग है उसमे उस जीव ने कभी तत्परता पूर्वक प्रवृत्ति नही की इसलिये अब भी यदि आत्महित की इच्छा हो तो आलस्य को छोडकर, आत्मा का कर्त्तव्य समझकर, रोग और वृद्ध अवस्था आदि आने से पूर्व ही मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त हो जाना चाहिये; क्योकि यह पुरुष पर्याय, सत्समागम आदि सुयोग वारम्बार प्राप्त नही होते। इसलिये उन्हे व्यर्थ न गँवाकर अवश्य ही आत्महित साध लेना चाहिये।

प्रारम्भ से पहले अशुद्धियों को शुद्ध कीजिय

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध
२१	१	त्रयवध	त्रयविध
२४	२०	वन	वैन
३२	२४	चत्य	चैत्य
३५	१८	वराग्य	वैराग्य
३६	२२	धन	घन
३७	२१	शचि	शुचि
३८	४	हन	हनै
३९	१९	बन	बैन
४०	६	दशधम	दशधर्म
५०	१६	त	तो
५३	१४	आ	आज
५५	७	प्रम	प्रेम
५९	१७	जौ	जो
६०	८	मोक्षाथ	मोक्षार्थ
६३	१८	केकल	केवल
७२	५	ससर	ससार
७७	२१	मे	मै
७९	१०	कम	कर्म
८२	२३	ढले	ढुले
८५	१४	पोछि	पीछे
८८	२०	चल	चलूं
९५	२६	ओर	और
९७	६	णृतकरूप	मृतकरूप
९८	३	मुनिवरो	मुनिवर
९८	१५	ओर	और

भारतीय श्रुति-दर्शन केन्द्र

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध
१०१	१	भा	भी
१०६	६	रघकती	घघकती
१०७	२	निवृत	निर्वृत
१०७	३	सम्यक्माग	सम्यक्मार्ग
१०८	१३	तुर्त	तुरन्त
११३	१४	पढ	पढ़ूं
११६	१९	मुद	मुर्दे
१२२	१७	गोर	घोर
१२२	२	दोष	द्वेष
१२८	२	समोवर	सरोवर
१३१	१४	रावन	रोवन
१३२	११	निजथर	निजघर
१३२	२३	मे	मैं
१३६	२०	भयो	भैया
१३७	१८	भया	भया ही
१३८	१८	किया	किया ही
१४५	१७	मेरे	मरे
१५०	५	ध्याओ	ध्याओ
१५०	१२	रचद्रव्य	स्वद्रव्य
१५०	२५	स्व स्वरूप	स्व स्वरूप
१५१	९	कियाओ	क्रियाओ
१५५	७	बड	बड़े
१५५	१५	पूवक	पूर्वक
१५६	१४	ओर	और
१५७	१४	ये	से
१६४	२१	स	से